विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक २ फरवरी २००४ मूल्य रु. ६.००
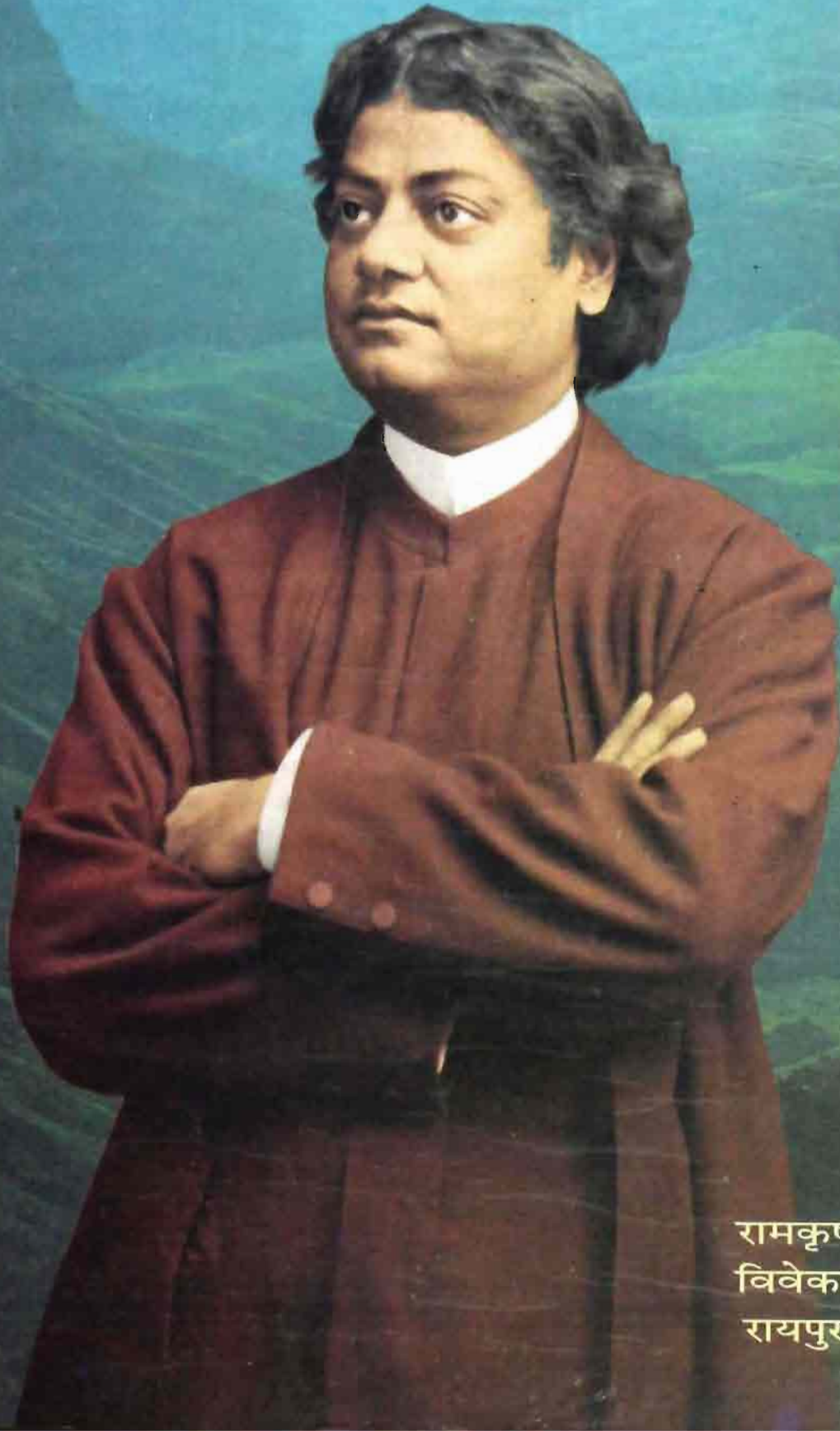
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
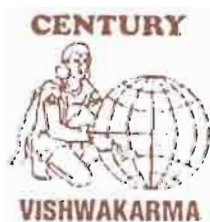
|| आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ||

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक २

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १६

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

नाव पानी में रहे तो हर्ज नहीं, पर नाव के अन्दर पानी न रहे, वरना नाव डूब जाएगी। साधक संसार में रहे तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु साधक के भीतर संसार न रहे।

तुम संसार में रहो भी तो इसमें कोई विशेष हानि नहीं। मन को सदा ईश्वर में लगाए रखकर निर्लिप्त हो संसार के कर्मों को किए जाओ। जैसे, अगर किसी की पीठ में घाव हो जाए तो वह लोगों से बातचीत या दूसरे व्यवहार आदि तो करता है, पर उसका मन सब समय उस घाव के दर्द की ओर ही पड़ा रहता है। ... यदि किसी में विवेक, वैराग्य और ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग रहे तो संसार में रहते हुए भी उसे कोई हानि नहीं होती।

जब भगवान ने तुम्हें संसार में ही रखा है तो तुम क्या करोगे? उनकी शरण लो, उन्हें सब कुछ सौंप दो, उनके चरणों में आत्मसमर्पण करो, ऐसा करने से फिर कोई कष्ट नहीं रह जाएगा। तब तुम देखोगे कि सब उन्हीं की इच्छा से हो रहा है। ... तुम्हारे लिए कर्म का त्याग करना सम्भव नहीं। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हारा स्वभाव तुमसे कर्म करवाएगा। इसलिए अनासक्त होकर कर्म करो। इससे ईश्वरलाभ होता है। अनासक्त होकर कर्म करना अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा न रखना। ईश्वरलाभ जीवन का उद्देश्य है और निष्काम कर्म उसका उपाय।

गृहस्थाश्रम में रहकर भी ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। जैसे राजर्षि जनक को हुए थे। परन्तु कहने मात्र से कोई जनक राजा नहीं बन जाता। जनक राजा ने पहले निर्जन में जाकर कितने वर्षों तक उग्र तपस्या की थी। गृहस्थों को बीच-बीच में, कम से कम तीन ही दिन के लिए, निर्जन में जाकर ईश्वरदर्शन के लिए प्रार्थना करनी चाहिए – इससे अत्यन्त लाभ होता है। ... तुम संसार में रहकर गृहस्थी चला रहे हो इसमें हानि नहीं; परन्तु तुम्हें अपना मन ईश्वर की ओर रखना चाहिए। एक हाथ से कर्म करो, और दूसरे हाथ से ईश्वर के चरणों को पकड़े रहो। जब संसार के कर्मों का अन्त हो जाएगा तब दोनों हाथों से ईश्वर के चरणों को पकड़ना।

॥ॐआत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४२ फरवरी २००४ अंक २

नीति-शतकम्

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः स्वजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०२॥

अन्वयः – यस्य नरस्य विपुलं पूर्वसुकृतम् अस्ति, तस्य भीमं वनं प्रधानं पुरं भवति, तस्य सर्वः जनः स्वजनताम् उपयाति, कृत्स्ना भूः च सन्निधि-रत्नपूर्णा भवति ।

भावार्थ – जिस व्यक्ति के पहले से (पूर्व जन्मों में) किये हुए पुण्य कर्म प्रबल हैं, उसके लिए घोर वन भी प्रमुख नगर में रूपान्तरित हो जाता है, सभी लोग सहज ही उसके मित्र हो जाते हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी उसके लिए धन-धान्य तथा रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है।

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१०३॥

अन्वयः – लाभः कः? गुणिसङ्गमः । असुखं किम्? प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः । हानिः का? समयच्युतिः । निपुणता का? धर्मतत्त्वे रतिः । शूरः कः? विजितेन्द्रियः । प्रियतमा का? अनुव्रता । धनं किम्? विद्या । सुखं किम्? अप्रवासगमनम् । राज्यं किम्? आज्ञाफलम् ।

भावार्थ – इस संसार में प्राप्ति क्या है? – गुणीजनों का संग। दुखकर क्या है? – मूर्खों की संगति। हानि क्या है? – समय चूक जाना। निपुणता या चतुराई क्या है? – धर्म-तत्त्व में अभिरुचि। सच्चा वीर कौन है? – जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है। प्रियतमा कौन है? – अनुकूल आचरण करनेवाली। धन क्या है? – विद्या। सुख क्या है? – परदेश न जाना। राज्य क्या है? – आज्ञा पालित होना।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

– १ –

(यमन या चन्द्रकौंस-कहरवा)

परमहंस श्रीरामकृष्ण की, महिमा देखो अपरम्पार,
सच्चा मार्ग दिखाया सबको, धन्य हुआ सारा संसार ।।

सम्प्रदाय का भेद मिटाया, सब लोगों में मेल कराया,
तत्त्वज्ञान का सत्यापन कर, पूरब-पश्चिम किया प्रचार ।।

भौतिकता के युग-प्रवाह में, काम-दाम के दुखद दाह में,
अनासक्ति सह भक्ति-ज्ञान को, कहा धर्मजीवन का सार ।।

उनकी चरण-शरण में आओ, चारों वस्तु सहज ही पाओ,
कृपादृष्टि पाकर होओगे, तुम 'विदेह' भवसागर पार ।।

– २ –

(पीलू-कहरवा)

ठाकुर, मधुर तुम्हारा नाम ।
परम अमोल रतन इस जग का,
लगे न कोई दाम ।। ठाकुर..

नामामृत जब चित में आता,
तन-मन सब शीतल हो जाता ।
त्रिविध ताप से तप्त प्राण को,
मिलता है आराम ।। ठाकुर..

षड्रस नवरस जग के सब रस,
लगते फीके, नाममात्र बस ।
सभी रसों में परम श्रेष्ठ है,
नामामृत रसधाम ।। ठाकुर...

तुमसे से भी प्रिय नाम तुम्हारा,
सुनता-गाता यह जग सारा।
हो 'विदेह' के अन्तिम क्षण में,
होठों में मधुनाम।। ठाकुर ...

– *विदेह*

स्वाधीनता और मुक्ति

स्वामी विवेकानन्द

मन को आसानी से नहीं जीता जा सकता। जो मन हल्की-से-हल्की उत्तेजना या खतरा आने पर, प्रत्येक छोटी-सी घटना उपस्थित होने पर, डावाडोल होने लगते हैं, उनकी दशा भला क्या होगी? जब इस प्रकार के विकार मन में पैदा होते हैं, तब महानता और आध्यात्मिकता की चर्चा का क्या प्रयोजन? मन की यह अस्थिर दशा बदलनी होगी। हमें स्वयं से पूछना चाहिए कि हमारे ऊपर बाह्य जगत् का कितना प्रभाव हो सकता है और अपने बाहर की तमाम शक्तियों के बावजूद कहाँ तक हम अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं! जब दुनिया की सारी शक्तियों को हम अपना सन्तुलन बिगाड़ने से रोकने में सफल हो जायँ, तभी हम मुक्त हैं और उसके पहले नहीं। वही मुक्ति है।

परमाणु से लेकर मनुष्य तक, अचेतन प्राणहीन कणों से लेकर पृथ्वी की सर्वोच्च सत्ता – मानवात्मा तक, जो कुछ हम इस विश्व में देखते हैं, वे सब मुक्ति के लिए चेष्टा कर रहे हैं। वस्तुत: यह सारा विश्व इस मुक्ति के लिए संघर्ष का ही परिणाम है।

इस विश्व में हम जो कुछ देखते हैं, मुक्ति-लाभ की यह चेष्टा ही उन सबकी जड़ में विद्यमान है। इसी की प्रेरणा से साधु प्रार्थना करता है और डाकू लूटता है। जब कार्य-विधि अनुचित होती है, तो उसे हम 'अशुभ' कहते हैं और जब उसकी अभिव्यक्ति उचित तथा उच्च होती है, तो उसे हम 'शुभ' कहते हैं। परन्तु दोनों दशाओं में प्रेरणा एक ही होती है, और वह है मुक्ति की चेष्टा।

यह मुक्ति ही चेतन या अचेतन – सम्पूर्ण प्रकृति का लक्ष्य है, और जाने या अनजाने सारा जगत् इसी लक्ष्य को पाने का प्रयत्न कर रहा है। पर जिस मुक्ति की खोज एक साधु करता है, वह उस मुक्ति से बहुत भिन्न होती है, जिसकी खोज डाकू करता है। साधु जिस मुक्ति की आकांक्षा करता है, उससे वह अनन्त अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी हो जाता है, परन्तु डाकू की इच्छित मुक्ति उसकी आत्मा के लिए और भी बन्धनों की सृष्टि कर देती है।

हमें मुक्ति की ही खोज करनी है और वह मुक्ति परमात्मा है। यह वही आनन्द है, जो हर वस्तु में निहित है; पर मनुष्य जब उसे किसी ससीम वस्तु में ढूँढ़ता है, तो उसका कण मात्र ही पाता है। चोर चोरी करने में वही आनन्द पाता है, जो भक्त भगवान में; पर चोर उस आनन्द का केवल कण-मात्र और साथ ही दु:ख का ढेर भी पाता है। ईश्वर ही सच्चा आनन्द है। ईश्वर आनन्द-स्वरूप है, प्रेम-स्वरूप है, मुक्ति-स्वरूप है; और जो कुछ भी बन्धनकारी है, वह ईश्वर नही है।

मनुष्य मुक्त तो है ही, पर उसे यह सत्य खोजना होगा। वह प्रतिक्षण इसे भूल जाता है। जाने या अनजाने अपने इस मुक्तस्वरूप को पहचान लेना – यही प्रत्येक मानव का सम्पूर्ण जीवन है। परन्तु ज्ञानी और अज्ञानी में भेद इतना ही है कि ज्ञानी इसको जान-बूझकर करता है और अज्ञानी बिना जाने।

हर वस्तु से स्वाधीनता – आवेगों से स्वाधीनता, चाहे वे सुख के हों या दु:ख के, भले के हों या बुरे के – स्वाधीनता का यह भाव ही मुक्ति का सच्चा भाव है। बल्कि इससे भी अधिक। हमें मृत्यु से मुक्त होना चाहिए। और मृत्यु से मुक्त होने के लिए हमें जीवन से मुक्त होना चाहिए। जीवन केवल मृत्यु का सपना है। जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु है; इसलिए मृत्यु से मुक्त होना हो तो जीवन से मुक्त होना चाहिए।

हम सदा मुक्त हैं, यदि हम इस पर केवल विश्वास भर करें, केवल पर्याप्त श्रद्धा। तुम आत्मा हो – मुक्त और शाश्वत, चिर मुक्त, चिर पवित्र। यथेष्ट श्रद्धा रखो और तुम क्षण भर में मुक्त हो जाओगे।

हर वस्तु देश, काल, कार्य-कारण से बँधी है। आत्मा सब देश, सब काल, सब कार्य-कारणों से परे है। जो बँधी है, वह प्रकृति है, आत्मा नहीं। इसलिए अपनी मुक्ति घोषित करो और जो हो, वह बनो – सदा मुक्त, सदा पवित्र।

मुक्ति पाने के लिए हमें इस विश्व की सीमाओं के परे जाना होगा; मुक्ति यहाँ नहीं मिल सकती। पूर्ण साम्यावस्था या ईसाई जिसे 'बुद्धि-से-अतीत शान्ति' कहते हैं, की प्राप्ति इस जगत् में नहीं हो सकती; और न स्वर्ग में या न किसी ऐसे स्थान में, जहाँ हमारे मन और विचार जा सकते हैं, जहाँ हम इन्द्रियों द्वारा किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं या जहाँ हमारी कल्पना-शक्ति काम कर सकती है। ऐसे किसी भी स्थान में हमें मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि ऐसे सभी स्थान निश्चय ही हमारे जगत् के अन्तर्गत होंगे, और यह जगत् देश, काल तथा निमित्त के बन्धनों में जकड़ा हुआ है।

यदि हम मन तथा इन्द्रियों के गोचर इस छोटे से जगत् से अपनी आसक्ति हटा लें, तो तत्क्षण मुक्त हो जायँगे। बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है – सारे नियमों के बाहर चले जाना – कार्य-कारण-शृंखला के बाहर हो जाना।

पूर्ण स्वाधीनता से उत्पन्न होनेवाली वह धन्यता, वह चिर शान्ति – वह स्वाधीन अवस्था, जिसमें कोई बन्धन नहीं, परिवर्तन नहीं, प्रकृति नहीं, कुछ ऐसा भी नहीं जो उसमें कोई परिर्वतन ला सके – वेदान्त की ईश्वर-सम्बन्धी यह धारणा ही धर्म की सर्वोच्च धारणा है। यह स्वाधीनता तुम्हारे भीतर है, मेरे भीतर है और यही एकमात्र यथार्थ स्वाधीनता है।

ईश्वरोपासना, सन्त-महापुरुषों की पूजा, एकाग्रता, ध्यान और निष्काम कर्म – ये सभी मायाजाल को काटकर निकलने के उपाय हैं; परन्तु हमारे भीतर पहले से तीव्र मुमुक्षा होनी चाहिए। जो ज्योति प्रकाशित होकर हमारे हृदयान्धकार को दूर कर देगी, वह तो हमारे भीतर ही है – यह वही ज्ञान है, जो हमारा स्वभाव या स्वरूप है। (इस ज्ञान को हम अपना 'जन्मसिद्ध अधिकार' नहीं कह सकते, क्योंकि वस्तुत: जन्म तो हमारा है ही नहीं।) केवल जो मेघ इस ज्ञानसूर्य को आवृत किये हुए हैं, हमें उन्हीं को दूर कर देना होगा।

हर धर्म में मुक्ति-लाभ की इस चेष्टा की अभिव्यक्ति पायी जाती है। यही सारी नैतिकता की, सभी नि:स्वार्थपरता की नींव है। नि:स्वार्थपरता का अर्थ है – मनुष्य अपना क्षुद्र शरीर ही है, इस भाव को दूर करे। जब हम किसी को कोई सत्कार्य करते या दूसरों की सहायता करते देखते है, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि उसे 'मैं और मेरे' की संकीर्ण परिधि में आबद्ध करके नहीं रखा जा सकता। स्वार्थपरता के इस त्याग की कोई निर्दिष्ट सीमा नही है। सारे श्रेष्ठ नीतिशास्त्र यही शिक्षा देते हैं कि पूर्ण नि:स्वार्थपरता ही चरम लक्ष्य है। मान लो, किसी मनुष्य ने इस पूर्ण नि:स्वार्थपरता को प्राप्त कर लिया, तो फिर उसकी क्या दशा होगी? फिर वह अमुक अमुक नामवाला पहले का क्षुद्र व्यक्ति नहीं रह जाता, वह अनन्त विस्तार प्राप्त कर लेता है। फिर उसका पहले का वह क्षुद्र व्यक्तित्व सदा के लिए नष्ट हो जाता है – अब वह अनन्त-स्वरूप हो जाता है, और इस अनन्त विकास की प्राप्ति ही असल में समग्र दार्शनिक एवं नैतिक शिक्षाओं का लक्ष्य है।

हमारी सभी चेष्टाओं का उद्देश्य उत्तरोत्तर स्वाधीन होना है। क्योंकि पूर्ण स्वाधीनता पाने पर ही हम पूर्णत्व पा सकते हैं। हमें इस बात का ज्ञान हो या न हो, स्वाधीनता पाने की यह चेष्टा ही सभी उपासना-प्रणालियों की भित्ति है।

इस विश्व की प्रेरक-शक्ति और लक्ष्य मुक्ति ही है। प्रकृति के नियम ऐसी पद्धतियाँ हैं, जिनके द्वारा जगदम्बा के निर्देशन में, हम उस मुक्ति तक पहुँचने हेतु संघर्ष करते है। मनुष्य में मुक्ति के लिए इस विश्वव्यापी संघर्ष की सर्वोच्च अभिव्यक्ति स्वेच्छया मुक्त होने की कामना के रूप में होती है।

यह मुक्ति तीन प्रकार से प्राप्त होती है – कर्म, उपासना और ज्ञान से।

(क) कर्म – दूसरों की सहायता करने और दूसरों से प्रेम करने का सतत प्रयत्न।

(ख) उपासना – प्रार्थना, स्तुति और ध्यान।

(ग) ज्ञान – जो ध्यान से उत्पन्न होता है।

दार्शनिक विश्लेषण करने पर हम देखते है कि हम स्वाधीन नही हैं। तथापि हमारे भीतर यह भाव बना ही रहता है कि हम स्वाधीन हैं – मुक्त हैं। अब हमे यह समझना है कि यह भाव आता कैसे है। हम देखते है कि हममे ये दो प्रेरणाएँ है – हमारी बुद्धि कहती है कि हमारे हर कार्य का कुछ कारण होता है, और साथ-ही-साथ हर कदम पर हम अपने स्वाधीन स्वभाव की घोषणा भी कर रहे हैं। इस पर वेदान्त का समाधान यह है कि अन्दर तो स्वाधीनता है – आत्मा वास्तव मे मुक्त है – पर शरीर और मन के द्वारा होनेवाले इस आत्मा के कार्य स्वाधीन नही है।

सारी प्रकृति नियम से, अपनी ही क्रिया के नियम से बँधी है और यह नियम कभी भंग नही किया जा सकता। यदि तुम

गुरु-गौरव के दोहे

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

गुरु-निन्दा मत कीजिये, गुरु की शक्ति अपार।
गुरु-अनुकंपा के बिना, कौन हुआ भव-पार ।।
गुरु वचनामृत मत तजो, तजो विषय-विषपान।
चकराओगे अन्यथा; कोल्हू-बैल-समान ।।
दुर्लभ सद्गुरु जगत् में, जिसे मिले, वह धन्य।
सद्गुरु को प्रभु जानिये, कभी न मानो अन्य ।।
बड़भागी जिस शिष्य को, मिलता सद्गुरु-ज्ञान।
उसको यह जग दीखता, हस्तामलक-समान ।।
खुल जाते जिस जीव में अन्तस् के दृग-द्वार।
भव का वैभव भी उसे, लगता है गतसार ।।
सद्गुरु अपने शिष्य का, रखते सार-सँभाल।
क्षण भर में कंगाल भी, होता मालामाल ।।
कृपा-धार गुरु की पड़े, मन-जीवन खिल जाय।
आत्म-तत्त्व के रूप में, परमेश्वर मिल जाय ।।
गुरु वचनामृत सींचते, मृतकों में भी प्राण।
गुरु के युक्ति विधान से, सिन्धु तरे पाषाण ।।
ईश-कृपा से ही मिले, सद्गुरु-कृपा निधान।
सद्गुरु जब करते कृपा, तब मिलते भगवान ।।
गुरु-सम कोई सुर नहीं, तब नर की क्या बात?
गुरु के वचन-प्रकाश से, मिटे अज्ञता-रात ।।
सद्गुरु का उपदेश है, शत-शत सूर्य समान।
जिसके दिव्य प्रकाश में, मिले आत्म-विज्ञान ।।

प्रकृति का नियम भंग कर सको, तो क्षण भर में सारी प्रकृति नष्ट हो जाय। फिर प्रकृति ही न रहे। मुक्ति पानेवाला प्रकृति का नियम तोड़ता है। उसके लिए प्रकृति पीछे हट जाती है और प्रकृति की शक्ति उस पर सक्रिय नहीं रहती। हर व्यक्ति कभी सदा-सर्वदा के लिए नियम को भंग करेगा और इस प्रकार उसका प्रकृति के साथ संघर्ष समाप्त हो जायेगा।

हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है – सतत संघर्ष के द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उनके दर्शन कर लेना; और इस प्रकार ईश्वर को प्राप्त करना, उसके दर्शन कर लेना और उन स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण हो जाना – यही हिन्दुओं का धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब वह असीम आनन्द का जीवन बिताता है। जिस एकमात्र वस्तु में मनुष्य को सुख पाना चाहिए, उस ईश्वर को पाकर वह परम तथा असीम आनन्द का उपभोग करता है और ईश्वर के साथ भी परमानन्द का आस्वादन करता है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारे धर्म का स्पष्ट रूप से यह कहना है कि जो कोई मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा रखता है, उसे इस ऋषित्व का लाभ करना होगा, मन्त्रद्रष्टा होना होगा, ईश्वर-साक्षात्कार करना होगा। यही मुक्ति है और यही हमारे शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है।

आत्मा को मानसिक और भौतिक सभी विषयों से पृथक् कर लेना ही हमारा लक्ष्य है। यह लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर आत्मा देखती है कि वह सर्वदा ही एकाकी रही है और उसे सुखी बनाने के लिए अन्य किसी की जरूरत नहीं। जब तक अपने को सुखी बनाने के लिए हमें अन्य किसी की जरूरत होती है, तब तक हम दास हैं। जब व्यक्ति जान लेता है कि वह मुक्त है, उसे अपनी पूर्णता के लिए अन्य किसी की जरूरत नहीं है और यह प्रकृति नितान्त अनावश्यक है, तब कैवल्य या मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

वेदान्त शिक्षा देता है कि निर्वाण-लाभ यहीं और अभी हो सकता है, उसके लिए हमें मृत्यु की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। निर्वाण का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार कर लेना; और यदि एक बार भी, वह चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, हमें यह अवस्था प्राप्त हो गयी, तो फिर कभी भी हम व्यक्तित्व की मरु-मरीचिका से भ्रमित न हो सकेंगे। हमारे नेत्र हैं, अत: हम प्रतीयमान वस्तु को ही देखते हैं, पर हमने इसके यथार्थ स्वरूप को जान लिया है और हमें सदैव यह बोध रहता है कि वह क्या है। यह वह आवरण है, जिसने अपरिणामीं आत्मा को ढँक रखा है। जब आवरण खुल जाता है और तब हम इसके पीछे स्थित आत्मा को देख पाते हैं। सभी परिवर्तन या परिणाम आवरण में ही होते है। साधु पुरुष में यह आवरण इतना झीना होता है कि उसमें आत्मा की हमें स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है; पर पापी में यह आवरण इतना मोटा होता है कि हम इस सत्य में संशय करने लग जाते हैं कि पापी के पीछे भी वही आत्मा है, जो साधु पुरुष के पीछे विद्यमान है। जब पूरा आवरण हट जाता है, तब हम देखने लगते है कि वास्तव में आवरण का अस्तित्व किसी काल में नही था – हम सदैव आत्मा ही थे, अन्य कुछ भी नहीं; यहाँ तक कि आवरण की बात ही भूल जाती है।

ऐसी बात नहीं कि मुक्त होने पर मनुष्य कर्म करना ही छोड़ दे और निर्जीव मिट्टी का ढेर बन जाय, बल्कि इसके विपरीत वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कर्मशील होता है, क्योकि अन्य लोग तो केवल बाध्य होकर कर्म करते हैं, पर वह स्वाधीन होकर करता है।

अज्ञान ही मृत्यु है और ज्ञान ही जीवन है।

मुक्ति का अर्थ है, पूर्ण स्वाधीनता – शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पा जाना। इसे समझना जरा कठिन है। लोहे की जंजीर भी एक जंजीर है और सोने की जंजीर भी एक जंजीर ही है।

मन और शब्दों में खूब दृढ़ता लाओ। 'मैं हीन हूँ', 'मैं दीन हूँ' – ऐसा कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने (अष्टावक्र-संहिता १/११) कहा है –

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किवदन्तीति सत्येयं या मति: सा गतिर्भवेत्॥

– "जिसके हृदय में मुक्ताभिमान सर्वदा जाग्रत है, वह मुक्त हो जाता है और जो 'मैं बद्ध हूँ' ऐसी भावना रखता है, समझ लो कि उसकी जन्म-जन्मान्तर तक बद्ध दशा ही रहेगी।"

ऐहिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों में ही इस बात को सत्य जानना। इस जीवन में जो सर्वदा हताशचित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

मुक्ति का अर्थ है सत्य को जानना। हम कुछ नहीं बनते, जो हैं, वही रहेंगे। काम करने से नही, श्रद्धा से मुक्ति मिलती है। यहाँ 'ज्ञान' का प्रश्न है। तुमको जानना होगा कि तुम क्या हो और तब काम समाप्त होगा।

❑❑❑

चिन्ता का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आका शवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो चिन्ता न करता होगा? चिन्ता तो मनुष्य के स्वभाव में है। कोटिपति से लेकर पथ के भिखारी तक - सभी इस चिन्ता-ताप से तप्त रहते हैं। जब मैं बालक था, तब लगता था कि जो बँगले में रहता है, कार में इधर-उधर आना-जाना करता है, जिसके इशारे पर दर्जनों नौकर नाचते रहते हैं, वह निश्चिन्त और सुखी होता होगा। पर अब जब इस श्रेणी के बहुत-से लोगों से परिचित होने का मौका लगता है, तो देखता हूँ कि मेरी पूर्वधारणा गलत थी। ऐसे व्यक्ति भी चिन्ताग्रस्त रहते हैं, बल्कि यदि ऐसा कहें कि गरीब या सामान्य व्यक्ति की तुलना में ये धनपति अधिक चिन्ताग्रस्त रहते हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

चिन्ता को चिता कहकर पुकारा गया है। चिता की आग के समान यह चिन्ता भी जलाती है। अन्तर इतना है कि चिता की आग बाहर दिखायी देती है और उसे जल डाल कर बुझाया जा सकता है, पर चिन्ता की आग दिखती नहीं, वह भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती है। वह मन की आग है और इसलिए वह बाहर के जल से शान्त नहीं होती। उसे बुझाने के लिए मन का ही जल चाहिए।

मन के जल का मतलब है मानसिक वृत्ति। चिन्ता यदि एक मानसिक वृत्ति है, तो उसको बुझाने वाला जल भी मानसिक वृत्ति ही है। हमारा सोचने का तरीका चिन्ता को जन्म देता है और सोचने का यही तरीका उसे बुझानेवाले जल का काम देता है। कुछ लोग छोटी छोटी बात पर चिन्तित हो उठते हैं। बच्चा यदि स्कूल से लौटने में तनिक विलम्ब कर दे, तो माता-पिता चिन्ता से परेशान हो जाते हैं। यदि लड़का बाहर किसी शहर में पढ़ता हो और सात दिन उसकी चिट्ठी नहीं आयी, तो माता-पिता अनमने हो जाते है और उनकी यह चिन्ता उनके समस्त व्यवहारों में झलकने लगती है। जब तक परीक्षाफल घोषित नहीं होता है, कई विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जो चिन्ता के मारे पेट-भर भोजन भी नहीं कर पाते हैं। यदि लड़का फीस पटाने के लिए रुपया ले जा रहा हो, तो माता-पिता को चिन्ता लगी रहती है कि वह पैसा कहीं गुमा तो नहीं देगा और जब तक लड़का लौट आकर फीस की पावती नहीं दे देता, तब तक वे स्वस्ति की साँस नहीं ले पाते। किसी को यही चिन्ता बनी रहती है कि उसकी चीजें चोरी तो नहीं चली जाएँगी। कोई चिट्ठी पाने की चिन्ता में बार-बार घर से बाहर निकल कर डाकिये का रास्ता जोहता रहता है। कॉलेज के दिनों में मेरा एक सहपाठी था, जो मेरे छात्रावास में रहा करता था। उसे चिट्ठी की ऐसी चिन्ता सताती थी कि वह सुबह से डाकिये के इन्तजार में न तो कुछ पढ़ सकता था और न कुछ कर सकता था, चिट्ठी न आने पर उदास हो जाता और बाकी दिन भी वह पढ़ नहीं पाता था।

ये मात्र कुछ उदाहरण हैं। तो, चिन्ता किसी समस्या का हल नहीं करती, अपितु वह एक नयी समस्या पैदा कर देती है। आज असख्य लोग चिन्ता के कारण सो नहीं पाते। उन्हें नींद की गोली लेनी पड़ती है। तो क्या चिन्ता का निदान नहीं है? - है और वह है स्वस्थ चिन्तन का अभ्यास। हमारा दिल और दिमाग जितना मजबूत होता है, हमें चिन्ता उतनी ही कम सताती है। दिल और दिमाग की मजबूती का मतलब है - विधेयात्मक और रचनात्मक विचार करने की मन में आदत डालना। सोचने का निषेधात्मक तरीका आशकाओं और कुशकाओं को जन्म देता है। किसी भी मुद्दे के केवल अन्धकारमय पक्ष को देखना चिन्ता के लिए खाद का काम करता है। जब हम सोचेंगे तो अवश्य ही पक्ष और विपक्ष दोनों पर विचार करेंगे, पर केवल विपक्ष का ही चिन्तन करना चिन्ता को जन्म देता है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में चिन्ता एक रोग है, जिसकी चिकित्सा की जानी चाहिए। यदि समय पर इलाज न किया गया, तो वह अनिद्रा, तनाव और हताशा को जन्म देता है। इलाज है अपने को स्वस्थ विचारों और विधेयात्मक कार्यों में हरदम लगाये रखना। ❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके द्वितीय प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

कोई भी दृष्टान्त पूरा नहीं होता, परन्तु उसके द्वारा जो बात कही जा रही है, उसे समझा जा सकता है। जैसे कभी-न-कभी इस संसार का विनाश तो होगा ही। वैसे ज्योतिषी लोग तो न जाने कितनी बार प्रलय कराते रहते हैं और उस प्रलय की चिन्ता में लोग भयभीत भी रहते हैं। पर यह तो निश्चित ही है कि इसी साल हो या अगले साल अथवा हजारों साल बाद, प्रलय तो होगा ही। यह निश्चित है कि जो वस्तु बनी है, वह कभी-न-कभी तो विनष्ट होगी ही। लेकिन जब यह प्रलय होता है, तब उसका वर्णन कई रूपों में किया गया है। मै आपको उस उलझन में नही डालना चाहूँगा।

कहते है कि प्रलय के बाद सारा विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान के उदर में समा जाता है। अब उसको आप विनाश कह लीजिए, प्रलय कह लीजिए या भगवान में विलय कह लीजिए। उसके लिए एक सरल-सा दृष्टान्त लें कि दिन भर आप काम-काज करते हैं। काम-काज के बाद जब आप थक जाते हैं, तो सोने की इच्छा होती है। अब सोते समय आप क्या करते हैं? आँखें बन्द करके सो जाते हैं और सोकर उठने के बाद फिर अपने काम में लग जाते हैं। यह क्रम कैसे चलता है?

सोते समय मन में एक संकल्प होता है कि इतनी देर सो लेने के बाद जाग जाएँगे। कई लोग तकिये से कह देते हैं – तकिया, मुझे जगा देना। अब तकिये से कहिए चाहे घड़ी से, या फिर संकल्प कर लीजिए कि प्रात: चार बजे मेरी नींद खुल जाय और आप सबेरे जाग उठेंगे। आजकल संकल्प कम ही लिया जाता होगा, क्योंकि उसी समय तो लोग गहरी नींद का आनन्द लेते हैं। इसका अर्थ क्या है? आप सो गए, तो वह जगानेवाला कौन है? कई लोग कहते हैं कि मैंने सोच लिया कि इस समय उठना है और उसी समय मेरी नींद खुल गई। जब आप नींद में सो रहे थे, तो आपको जगानेवाला कौन है? आप भले ही घड़ी में अलार्म लगाकर, उसी को सुनकर जागने की बात सोचते है, इस बात को छोड़ दें, तो आप अपने मन के संकल्प से ही जाग जाएँगे।

जिस समय आप नींद में सो जाते हैं, उस समय **आपका शरीर सो गया, पर काल जागता रहता है।** घड़ी मे जो चार बजना, पाँच बजना है, यह काल का प्रतीक है और वह काल ही आपको जगा देता है। आप जो भी करते रहे या आपमें जो विशेषताएँ थीं, यदि आप बड़े विद्वान्, बड़े वैज्ञानिक या कुशल चिकित्सक हैं, तो वह दिन में जब आप जाग रहे होते हैं तब तो वह प्रत्यक्ष था, पर जब नींद में सो गये तब वह सब कुछ भी दिखाई नहीं देता। फिर से जागने के बाद आप में जो शक्ति थी, वह पुन: सक्रिय हो जाती है और जो विशेषताएँ आप में है, उनसे आप जुड़ जाते हैं।

इसका अर्थ क्या हुआ? जब आप नींद में होते हैं, सोये रहते हैं, तब भी जो विद्यमान रहता है, सदा जागता रहता है, जो कभी सोता ही नहीं, वह कौन है? वस्तुत: वह काल ही है। **यह 'समय' ही सदा विद्यमान और जाग्रत रहता है।** इस काल के साथ-साथ जो कुछ और है, एक वह शक्ति जो आपके भीतर है और जो सुषुप्ति की अवस्था में नही दिखाई देती, क्योकि व्यक्ति की इन्द्रियाँ नींद में निष्क्रिय रहती हैं।

इसी प्रकार आप पौराणिक दृष्टि से विचार कीजिए। भक्तों ने उसे बड़े भावुक ढंग से कहा है कि भगवान जब थक जाते हैं, तब प्रलय हो जाता है। यह बहुत बढ़िया बात है। प्रलय माने भगवान के सोने का समय। भगवान का सोना अर्थात् इस संसार का भगवान के उदर में समा जाना।

ध्यान का क्या अर्थ है? कई लोग समझते है कि ध्यान के लिए बैठे और सोचने लगे कि यही है ध्यान। गोस्वामी जी ने कहा – नहीं! वे विनय-पत्रिका में कहते हैं – ध्यान करने बैठते तो बहुत लोग हैं, पर होता क्या है? ध्यान करना है भीतर और मन लगा रहता है बाहर की ओर – यह काम करना है, यहाँ जाना है, वहाँ जाना है, बाहर की चिन्ता मन में बनी हुई है। गोस्वामी जी के अनुसार सच्चा ध्यान कब होगा? विनय-पत्रिका में उन्होंने कहा – पहले बाहर की चिन्ता छोड़ दीजिए। पर बाहर की चिन्ता तो इतनी है कि आप ध्यान करने बैठे और कोई आकर आपका सामान उठा ले गया। लेकिन वे कहते हैं – भूल जाइए। – तो उपाय क्या है? बोले – उस समय आप एक स्थिति प्राप्त कीजिए। – कैसी? बोले – वह सारा जो बहिरंग दृश्य है, उसे पेट में ले लीजिए –

सकल दृश्य निज उदर मेलि
सोवै निद्रा तजि जोगी।

सोई हरिपद अनुभवै परमसुख
अतिशय द्वैत-बियोगी ।। १६७/४

पर ध्यान रखें. वह निद्रा की स्थिति नहीं है । ध्यान वह है, जिसमें सोने और जागने, दोनों का गुण हो । अब इसकी क्या व्याख्या करें, यह तो साधना की उच्चतम अवस्था है । योगी निद्रा छोड़कर सोना जानता है । सामान्य व्यक्ति निद्रा न लें तो विश्राम नहीं, पर निद्रा में चोरी का भय और जागते रहें तो थकान इतनी कि परेशान है । तो बड़ी विचित्र स्थिति है ! पर ध्यान करने बैठे योगी को बाहर की कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि बाहर कुछ है ही नहीं । सब कुछ पेट में ही है ।

बाहर कुछ भी नही है – माता-पिता, जाति-कुल कुछ भी नहीं । ध्यान करना हैं तो बाहर कुछ भी मत रहने दीजिये । ऐसी स्थिति में जब कोई साधना करता है, तब द्वैत मिटकर भगवान के चरणों का दिव्य ध्यान होता है । ध्यान कई लोग करते हैं, करना चाहिए, प्रारम्भिक कक्षा तो वही है, लेकिन वह तो भगवान से ही सीखना है ।

आपके घर चोरी हो जाय, कुछ खो जाय, तो कैसा दुख होता है ! पर जब प्रलय हो जाता है, इतना बड़ा ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है । भूकम्प आता है, तो कितना बड़ा त्रास आ जाता है । तो इतने बड़े विश्व का विनाश हो जाय, तब तो भगवान को अशान्त हो जाना चाहिए । पर कहते हैं कि तब भगवान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने उदर में रख लेते हैं । **लोगों को लग रहा है कि विनष्ट हो गया, पर वह तो भीतर ही है** । वस्तुत: सब कुछ तो भीतर ही, उनके.उदर में है । यह जो ब्रह्मा हैं, या विष्णु हैं, जिन्हें हम सुगुण-साकार रूप में जानते हैं, वे मानो इस जागरण के स्थान पर सुषुप्ति का आनन्द ले रहे हैं और सुषुप्ति का जो आनन्द है, वह यही है कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड मूल रूप में उनके उदर में विद्यमान हैं । आप उनका चित्र देखते हैं न ! वे कहॉ सोये हुए हैं? – क्षीर समुद्र में शेषशय्या पर । कितनी ऊँची और सैद्धान्तिक धारणा है ! सहस्र मुखवाले शेष साक्षात् काल है । भगवान विष्णु जब शयन में गए, तब काल ही जाग्रत है । शेष भगवान जाग रहे हैं । धन्य हैं ! यह जोड़ी अनोखी है ! जो निरन्तर विष्णु के सो जाने पर जाग रहा है । अब कल्पना करें कि कितने वर्षों तक विष्णु शयन करेंगे । आप हर साल विष्णु-शयनी और विष्णु-उत्थान करते हैं । पर काल जो सदा जागते रहते हैं, कभी नहीं सोते । भगवान विष्णु के साथ उनकी शक्ति – लक्ष्मीजी भी उन्हीं के अन्त:करण में सुषुप्त है ।

भगवान जब शयन करते हैं तो एक संकल्प होता है कि वे इतने दिनों तक शयन करेंगे, और उसके बाद पुन: संसार का निर्माण होगा । तब उन्हें जगाने का काम तो शेष भगवान ही करते हैं । **शेष भगवान ही काल के द्रष्टा हैं । काल से बढ़कर और कुछ नहीं है** । सोचिये – आप और हम कहाॅ हैं? अभिमान क्यों होता है? कहाँ खड़े हैं आप और हम? आप व्यक्ति के रूप में कार्य करते हुए लगते हैं, पर आप किसके आधार पर टिके हुए हैं? पृथ्वी के आधार पर और पृथ्वी किसके आधार पर टिकी हुई है? – कहते हैं शेष भगवान के आधार पर । शेष भगवान माने काल ।

काल के ऊपर देश, देश के ऊपर व्यक्ति । जो कुछ हो रहा है, उसके मूल में काल ही है । काल को छोड़कर कुछ भी नहीं है । सबके पीछे समय, समय, समय । यह जो सबके पीछे समय है, वह दिखाई नहीं देता । देश दिखाई दे रहा है, पृथ्वी दिखाई दे रही है, पर यह काल-तत्त्व जो सबका आधार है, वह अव्यक्त है । इसलिए जब आप पढ़ते है कि लक्ष्मणजी कभी सोते ही नहीं थे, तो बड़ा विचित्र-सा लगता है । क्या उन्हें नींद नहीं आती थी? इसका अर्थ है कि वे तो काल-स्वरूप हैं, वे भला कैसे सो जायेंगे । काल जो निरन्तर जाग रहा है । भगवान बाहर जब सोने और जागने की लीला करते है, तब काल ही लक्ष्मण के रूप में निरन्तर दिखाई देते हैं ।

अब इसे जरा इस दृष्टि से विचार करें – जब विवाह होता है, तब साक्षी की जरूरत होती है । जब आप विवाह करते हैं, तब परिवार के वृद्ध तथा प्रतिष्ठित लोगों को लग्न-मण्डप में बुलाते हैं । वे साक्षी के रूप में उस विवाह को देखते है कि हाँ, यह विवाह मेरे सामने हुआ । यह एक सावधानी के लिए है कि आगे चलकर कोई यह न कह दे कि विवाह हुआ ही नहीं । इसीलिए गवाह की आवश्यकता है ।

अब यहाँ पर जो विवाह हो रहा है, इस विवाह में गवाह तो बहुत मिल जाएँगे – ब्रह्म और शक्ति का विवाह जब हुआ होगा, तब आप कल्पना कीजिए कि उस विवाह को देखनेवाला वहाँ पर कौन रहा होगा । उस विवाह का गवाह – साक्षी कौन था? इसलिए ब्रह्माजी बोले – महाराज, संसार आपने बनाया । भगवान ने कहा – लोग तो कहते है कि ब्रह्मा ने बनाया और तुम कहते हो कि मैंने बनाया । ब्रह्माजी बोले – आपने जब बनाया, तो आप अकेले थे, आपको बनाते किसी ने देखा नही, कोई गवाह नहीं है कि आपने बनाया –

जेहिं सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई
संग सहाय न दूजा ।। १८६ छं.

– देखनेवाला जब कोई नहीं था, तो लोग क्या जाने कि आपने बनाया । मैंन जब बनाया, तब देखनेवाले लोग थे । उन्होंने प्रचार कर दिया कि ब्रह्मा ने बनाया । मै जानता हूॅ कि जब आपने सृष्टि की, तब आप अकेले थे ।

इसलिए ब्रह्माजी और भगवान विष्णु शंकर जी के पास जाकर बोले – महाराज, विवाह कर लीजिये । सुनकर शंकर जी हँसने लगे । जैसे कोई बालक अपने पिता से कहे – विवाह कर लीजिये । – किससे? – माँ से ।

भगवान शंकर भी व्यंगपूर्वक बोले – अच्छा ठीक है, पर विवाह किससे करें? वे लोग बोले – पार्वती जी से। शंकर जी ने कहा – देखते नहीं, मेरा आधा अंग ही तो पार्वती है। पार्वती और मैं – दोनों मिलकर ही तो शंकर हूँ। वह मुझसे अभिन्न है, मेरी शक्ति है। क्या हमारा विवाह होना बाकी है? ब्रह्माजी बोले – नहीं महाराज, आपका विवाह हुआ होगा, लेकिन हम लोगों ने तो नहीं देखा। अब हम आपका विवाह देखना चाहते हैं। इसलिए आप फिर से विवाह कीजिए –

सकल सुरन्ह के हृदयँ अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु।।१/८८

उस समय तो कोई देखनेवाला नही था। अब हम लोग देखना चाहते हैं, ताकि यदि कोई कहे कि किसने देखा है, तो कह सकें – हमने, उस विवाह में हम सम्मिलित हुए थे, आपका विवाह पार्वती से हुआ, हम इसके गवाह हैं।

जनक जी ने कहा कि मेरी कन्या कुँवारी रह जाएगी, तो यह किसके लिए कहा? सीताजी के लिए। अब भगवान श्रीराम के साथ सीताजी का विवाह होना कोई बाकी थोड़े ही है? मनुजी के सामने जब भगवान राम प्रगट हुए तब भी सीताजी उनके साथ थीं। जब से राम हैं, तब से सीताजी भी हैं। अब लक्ष्मण जी का तात्पर्य क्या है? लक्ष्मण जी जनक जी से बोले – "आपको बड़ी व्याकुलता हो रही है कि मेरी कन्या कुँवारी रह जायेगी। ये भला कैसे कुँवारी रह जाएँगी? जो सारे विश्व का सृजन करती हैं, जो जगत् को बनानेवाली हैं, जिनके द्वारा सब कुछ बना हुआ है और उन्हीं के बनाए हुए आप हैं, जो उनकी चिन्ता कर रहे है कि इनका विवाह कैसे होगा?" इसमें संकेत क्या था? – आप व्यर्थ इसकी चिन्ता मत कीजिए। जब सीताजी और श्रीराम का विवाह हुआ, तो उस समय कोई देखनेवाला था ही नहीं। भगवान राम तो साक्षात् ईश्वर और सीताजी उनकी मायाशक्ति हैं, और जब उनका विवाह हुआ तब तो सृष्टि हुई भी नहीं थी, कोई था ही नहीं देखनेवाला, बस एकमात्र वे ही थे।

अब ऐसी स्थिति में गवाह किसे माना जाय? तो संसार में विवाह का सबसे बड़ा साक्षी तो पलंग ही होता है, जिस पर वर और कन्या सोते हैं। लक्ष्मण जी जब खड़े होकर बोले तो सीताजी को बड़ी प्रसन्नता हुई कि चलो पलंग ही बोल रहा है। हमारे विवाह का सबसे बड़ा और एकमात्र गवाह तो यही है। लक्ष्मण जी तो शेष हैं, साक्षात् काल हैं। भगवान अपनी शक्ति के साथ शेष-शय्या पर ही तो विश्राम करते हैं, सोते हैं।

जनक जी बोले – अब मैं क्या करूँ, मेरी कन्या कुँवारी ही रह जाएगी! लक्ष्मण जी ने ज्योंही सुना, तो सोचा – अरे, इन्हें श्रीराम और सीताजी के विषय में बड़ा भ्रम हो गया है। इनकी भ्रान्ति को दूर किए बिना, इनका दु:ख दूर नहीं होगा। लक्ष्मण जी उठ खड़े हुए और जो कुछ बोले, उसका अभिप्राय यह था कि सीताजी का विवाह श्रीराम से आप क्या करेंगे! अरे भाई, ये तो चिर काल से विवाहित हैं। और सीताजी बड़ी प्रसन्न क्यों हुईं! इसलिए कि लक्ष्मण जी को छोड़ और कोई गवाह तो है नहीं और जब ये कह रहे हैं तो चलो अब तो लोगों का भ्रम मिटेगा। लक्ष्मण जी साक्षात् काल-तत्त्व हैं, शेष हैं, भगवान के विश्राम-स्थल हैं, शैय्या हैं। भगवान शेषशायी हैं, शेष-शैय्या पर शयन करते हैं। और जब भगवान शेष-शैय्या पर सो जाते हैं तब भी एकमात्र काल ही जागते रहते थे। इसलिए भगवान के बारे में लक्ष्मण जी से अधिक जाननेवाला कोई नहीं है। लक्ष्मण जी जानते हैं कि इस विवाह का धनुष के टूटने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक व्यंग्यात्मक कहानी है कि एक बुढ़िया ने एक मुर्गा पाल रखा था। मुर्गे का स्वभाव आप जानते ही होंगे कि सुबह ठीक सूर्योदय के समय वह बॉग देता है। लोग मुर्गा के बोलने और सूर्योदय के समय का सम्बन्ध जानते हैं। बुढ़िया झगड़ालू थी। कभी कभी लोग जब तंग करते, तो वह धमकी देती थी – अगर तुम लोग मुझे जरा भी तंग करोगे, तो मै अपना मुर्गा लेकर चली जाऊँगी। – उससे क्या होगा? वह बोली – मुर्गा बोलेगा नहीं, तो सूरज नहीं निकलेगा, तब तुम्हारी क्या दशा होगी। तो क्या सचमुच मुर्गा न बोले, तो सूरज नही निकलेगा? मुर्गा बोले चाहे न बोले, सूर्य तो निकलता ही है। कोई मुर्गा बोलवाकर सूर्य को थोड़े ही निकालता है।

लक्ष्मण जी का तात्पर्य यह था कि जिनका विवाह अनादि काल से हो चुका है, उनके विवाह के लिए आज इस धनुष के टूटने का क्या सम्बन्ध है? जनक जी इसलिए दुखी हो रहे हैं कि लगता है मेरी पुत्री कुँवारी रह जाएगी और बाकी लोग भ्रम से मान बैठे हैं कि सीताजी का विवाह धनुष टूटने से होगा। पर उनका विवाह तो कब का हो चुका है! उनके विवाह के बाद ही तो इस जगत् की सृष्टि हुई। पर इस समय यहाँ भ्रम का इतना घना अन्धकार छाया हुआ है कि सत्य किसी को दिखाई ही नहीं दे रहा है। केवल लक्ष्मण जी देख रहे है और वे यह भी जानते हैं कि यह अन्धकार कैसे दूर होगा और तब यह सत्य सबके सामने प्रगट होगा। किसी ने प्रभु श्रीराम से पूछा – सब राजाओं ने प्रयास किया पर आप क्यो नही उठे? प्रभु बोले – "जिन्हें पाने की इच्छा थी वे उठे, पर मुझे तो वे सदा से प्राप्त हैं, तो मैं क्यों उठूँ? यदि मुझे भ्रम होता कि मेरा विवाह नहीं हुआ है, धनुष टूटने पर ही विवाह होगा, तो मैं भी प्रयास करता।"

यह दार्शनिक प्रसंग है। ईश्वर और शक्ति तो अनादि काल से एक हैं और काल सतत प्रवहमान है। संसार इस काल-तत्त्व के द्वारा संचालित है। वस्तुत: इस विषय में और विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ भी है, पहले से है।

कुछ भी नया नहीं होता। काल के अनुसार, समय पाकर वस्तु केवल दिखाई देने लगती है। वह प्रकाश किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसलिए इस प्रसंग का जो मूल-तत्त्व है, लक्ष्मण जी ने जब कहा कि प्रभु की आज्ञा हो तो अभी मैं इस धनुष को तोड़ दूँ, तब वे जानते थे कि वस्तुत: प्रभु श्रीराम और सीताजी का विवाह तो कब का हो चुका है। जनक भ्रम में है? वे किसके विवाह के लिए दुख और चिन्ता कर रहे हैं?

लक्ष्मण जी जब खड़े हुए और बोले – प्रभो, यदि आप आदेश दें तो मैं अभी इस धनुष को तोड़ सकता हूँ। इस पर कोई पूछ सकता है कि प्रभु ने लक्ष्मण जी को आदेश क्यों नहीं दिया और यदि आदेश दे देते, तो क्या वे धनुष तोड़ देते? इसके समझने के लिए दृष्टि चाहिए। जो लोग शब्दों का केवल स्थूल अर्थ लेते हैं, जिनके पास सूक्ष्म दृष्टि नहीं होती, वे नहीं देख पाते। इस पर प्राय: लोगों की दृष्टि नहीं जाती कि लक्ष्मंण जी जब बोल रहे थे, तब हो क्या रहा था। लक्ष्मण जी बोल क्या रहे थे, तोड़ ही तो रहे थे और उन्होंने तो कहा ही – **जौं तुम्हारिं अनुसासन पावौं** – प्रभु की आज्ञा हो तो अभी ही तोड़ दें। और जब तोड़ रहे हैं, तो इसका अर्थ ही यह हुआ कि प्रभु की आज्ञा से ही वे खड़े होकर बोल रहे थे या तात्त्विक दृष्टि से कहें तो तोड़ रहे थे। उन्होंने क्या तोड़ा? धनुष तो ज्यों-का-त्यों ही रखा हुआ था। गोस्वामी कहते हैं –धनुष तोड़ना तो प्रभु की लीला-माधुरी है, वस्तुत: आवश्यक था जनक जी के भ्रम को तोड़ना और उसे लक्ष्मण जी ने तोड़ दिया। इसलिए तो महर्षि विश्वामित्र लक्ष्मण जी के इस कार्य से सर्वाधिक प्रसन्न हुए। सीताजी को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने देखा कि तोड़ने की अन्तरंग क्रिया हो गई, अब केवल बहिरंग लीला बाकी है। भगवान राम पुलकित होने लगे। उन्हें रोमांच होने लगा। मानो भगवान राघवेन्द्र की भुजा का सूर्य निकलने के पूर्व लक्ष्मण जी ने भ्रम के अन्धकार को तोड़कर स्वागत में पूर्व दिशा में अरुणाभ का पराग बिखेर दिया हो।

जीवन में भ्रम का टूटना बड़ा कठिन है और यह भ्रम टूट जाना सबसे बड़ी उपलब्धि है। व्यक्ति भ्रममुक्त हो जाय, इससे बढ़कर कोई बात नही है। यह जनक का – विवाह का प्रसंग वह दार्शनिक प्रसंग है, जहाँ अन्धकार में सत्य दिखाई नही दे रहा है। इस अन्धकार के दूर होने पर सत्य दिखाई देगा।

इसलिए इस विवाह के सन्दर्भ में जनक जी की यह प्रतिज्ञा रहस्यपूर्ण है। और उस रहस्य का वेध करनेवाली लक्ष्मण जी की वाणी भी कम रहस्यपूर्ण नहीं है। उस रहस्य के भेद को उस सभा मे केवल तीन ही लोग समझ पा रहे थे। कौन कौन? सीताजी लक्ष्मण जी का वाणी सुनकर बड़ी प्रसन्न हो रही हैं। विश्वामित्र जी तो और अधिक प्रसन्न हुए और भगवान राम तो आनन्द में पुलकित हो रहे हैं। उन्हें रोमांच हो रहा है। क्यों? जनक जी तथा समस्त लोगों के भ्रम को तोड़नेवाली लक्ष्मण की वाणी के रहस्य को ये तीन लोग ही समझ रहे थे और सुनकर परम आनन्दित हो रहे थे।

वह रहस्य क्या है? वह है काल का रहस्य। काल के रहस्य को सभी लोग नहीं समझ पाते। वह अव्यक्त है और इन्द्रियों के लिए अगम्य है। सीताजी समझ गईं। वे तो आदि शक्ति हैं। **आदिसक्ति जेहि जग उपजाया** – विश्व सृजन करती हैं, सृष्टि करती है। सृष्टि में काल-तत्त्व का क्या महत्व है, यह उनसे अधिक कौन जानेगा? सृष्टि में पहली आवश्यकता तो काल ही है। पहले सृष्टि का समय आता है, तब सृष्टि होती है। लक्ष्मण जी जब खड़े होकर बोले, तो सीताजी समझ गईं कि अब धनुष टूटने का समय आ गया, प्रसन्न हो गईं। महर्षि विश्वामित्र क्यों प्रसन्न हो रहे हैं? अभी तक उन्होंने भगवान राम को ही देखा था। ताड़का-वध के बाद श्रीराम को उन्होंने पहचान लिया था। उन्होंने साक्षात् ब्रह्म का, ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। उन्हें तो पा लिया था, पर लक्ष्मण जी को उन्होंने आज पहचाना। आज वे काल का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। यहाँ भी भगवान श्रीराम से पहले लक्ष्मण उठे। जो होना है समय आने पर होगा। पहले समय आया। विश्वामित्र बहुत प्रसन्न क्यों हो रहे हैं? उन्होंने सोचा कि मैंने बड़ी बुद्धिमानी की, जो अकेले राम को लेकर नहीं आया, लक्ष्मण को भी साथ ले आया। आज पता चला कि राम के साथ लक्ष्मण का होना कितना आवश्यक है। आज अगर लक्ष्मण नही होते तो रामलीला यही समाप्त हो जाती। क्योकि ब्रह्म में तो कोई वृत्ति है नही। न गम उठते, न धनुष टूटता। अँधेरा ज्यों-का-त्यों बना रहता। लक्ष्मण जी साक्षात् काल हैं। जब उन्होंने उठकर गर्जना की, तब गुरु विश्वामित्र को लगा कि समय आ गया। इसीलिये तो गोस्वामी जी ने वहाँ लिखा –

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। १/२५४/५

समय, काल! विश्वामित्रजी क्या पंचांग खोलकर देख रहे थे कि अब धनुष तोड़ने का मुहूर्त आ गया, राम चले जायँ। विश्वामित्र ने कैसे जान लिया कि समय आ गया? लक्ष्मण जी की गर्जना सुनकर जान गए कि अब काल गरज रहा है। अब पंचांग की जरूरत नही है, काल स्वयं खड़ा हो गया है।

सत्य तो स्पष्ट है और उस सत्य के सन्दर्भ को गोस्वामी जी ने अपनी पद्धति से काव्य-रस में प्रस्तुत किया है। धनुर्भंग का अर्थ है कि जिस सत्य को हम भूल चुके हैं, उसको हम स्वयं में अनुभव करें। इसके लिए जरूरत श्रीराम की ही नही, लक्ष्मण और गुरु की भी है। क्योंकि ज्ञान तो गुरु से ही होगा –

बिनु गुर होइ कि ग्यान
ग्यान कि होइ बिराग बिनु। ७/८९ (क)

गुरु भी जब शिष्य को ज्ञान देगे, तो उसकी चेतना और

जिज्ञासा को देखकर ही देंगे। उस जिज्ञासा-वृत्ति को उत्पन्न करते हैं लक्ष्मण जी और तब उपदेश देते हैं विश्वामित्र जी। विश्वामित्र जी गुरु हैं, लक्ष्मण वैराग्य हैं और श्रीराम अखण्ड ज्ञान हैं। उनके प्रकाश में विवाह का उत्सव हुआ, बाजे बजे, सबको आनन्द आया। इस आनन्द के मूल में क्या है –

उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बालपतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग ।। १/२५४

समस्या वस्तुत: बाहर नहीं, हमारे भीतर है, हमारे मन में है और उस समस्या का समाधान है ध्यान में। ध्यान के द्वारा उसका समाधान कीजिए। बुद्धि की समस्या का समाधान है ज्ञान में। चित्त एवं अहंकार की समस्या का समाधान है समाधि में, जिसे ज्ञेयता का अन्तिम रूप माना जाता है। जीवन की बहिरंग स्थिति में जो परिवर्तन होता है, वह सहज होता है। सहज क्या होता है, वह तो है ही। केवल जो नहीं दिखाई दे रहा था, वह दिखाई देने लगता है। इस सूत्र को यदि हम थोड़ा समझ लें, तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि **हर वस्तु का कारण यदि बाहर ही ढूँढ़ेंगे, तो उसमें झगड़ा ही बढ़ेगा।** बाहर यदि कोई आपकी बात को मान ले तो वह आपको प्रिय लगेगा, उससे आपको राग हो जायेगा और आपकी बात नहीं मानेगा तो उससे आपको द्वेष हो जाएगा। अब जिससे आपको राग हो गया है वह जिस दिन आपकी बात नहीं मानेगा, उससे आपको द्वेष हो जाएगा। इसलिए भीतर लौटिए। बाहर ही मत देखते रहिए, भीतर लौटिए। श्रीराम के चरित्र का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है, भीतर उनका ध्यान कीजिए। जब ध्यान करेंगे तब उन्हें जान लेंगे। तब क्या होगा –

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे।
बिधि हरि संभु नचावनिहारे ।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा।
औरु तुम्हहि को जाननिहारा ।।
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।। २/१२६/१-३

कोई नहीं जान पाता। तब उपाय क्या है? वही जान पाता है जिनको वे स्वयं जना देते हैं। लाभ क्या होता है जान लेने से? बोले – आपको जान लेने के बाद वह आपसे अलग रह ही नहीं सकता।

'मानस' का यह जो दिव्य प्रसंग है, इसका उद्देश्य केवल बाहर से आपको अभिनेता बनाना नहीं है, अपितु यह है कि कैसे हम अपने जीवन में, अपने अन्त:करण में, मन-बुद्धि व चित्त में उस दिव्य तत्त्व के साथ एकत्व का अनुभव कर लें। इसके लिए केवल कर्म ही नहीं, धर्म ही नहीं, अर्थ और काम ही नहीं, ज्ञान की और ध्यान की आवश्यकता है –

ग्यान गम्य जय रघुराई ।। १/२११-छंद
वेदान्तवेद्यं विभुम् ।। ५/ श्लोक-१

यह साधना का क्रम है। यह जो प्रसंग चुना गया, वह बड़ा गम्भीर है, पर घबराने की बात नहीं है। हम क्रमश: धीरे धीरे आगे बढ़ेंगे। कोई मुझसे बोला कि अधिकांश कथा तो सिर के ऊपर से निकल जाती है। मैंने कहा – घबराइये नही, धीरे धीरे वह हृदय में भी उतरने लगेगी। गोस्वामी जी ने तो विनय-पत्रिका मे कह दिया है कि बस, भगवान की भक्ति कीजिए, धीरे धीरे सब समझ मे आ जाएगा –

तुलसिदास कह चिद-बिलास
जग बूझत बूझत बूझै ।। विनय-१२४/५

चित्त में यह जो 'मैं और मेरा' का मैल जम गया है, वह भगवान की भक्ति-रूपी निर्मल जल से धुलकर स्वच्छ हो जाएगा, तो बिना प्रयास ही सब समझ में आ जाएगा। किसी ने कहा – महाराज, इस संसार में 'मैं और मेरा' के बिना तो व्यवहार ही नहीं चलेगा। व्यवहार तो 'मैं-तू, मेरा-तेरा' से ही चलता है। 'मैं' तो जीव का स्वभाव है, उसका धर्म है, वह तो उसके लिए अनिवार्य है। यदि कोई कहे कि मै को छोड़ दो, तो क्या कोई छोड़ेगा? 'मैं' को कोई कैसे छोड़ेगा? और जहाँ मैं है, वहाँ मेरा तो होगा ही। गोस्वामी जी बोले – आप कौन हैं? वह घबरा गया। किसी से आप पूछिए तो वह नाम बता देगा, जाति बता देगा, पद बता देगा। पर गोस्वामी जी पूछते हैं – तुम अपना निज नाम तो बताओ और यह जो 'मैं' से 'मेरा' बना, कौन हो तुम और क्या है तुम्हारा –

मोर मोर सब कहँ कहसि
तू को कहु निज नाम। दोहावली, १८

बोले – महाराज, समझ में नही आया। लोग जिस नाम से मुझे पुकारते है वही मैंने आपको बताया और उसी के आधार पर मैं कहता हूँ कि यह मेरा है। पर आप कह रहे हैं, समझ में नहीं आ रहा है। बोले – चिन्ता मत करो, सब समझ में आने लगेगा –

रघुपति भगति बारि छालित चित
बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास
जग बूझत बूझत बूझै ।। विनय., १२४/५

मुझे पूरा विश्वास है, आप ऐसे आध्यात्मिक आश्रम में रहते हैं, यहाँ आते रहते हैं, तो निश्चय ही आप बूझने के प्रयास में लगे हैं, लगे रहेंगे और बूझ भी लेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

भगवान शिव की महिमा

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

हिन्दू-धर्म उस नक्षत्र-खचित आकाश की भाँति है, जिसमें तैतीस कोटि देवता तारकों की भाँति जगमगाते हैं। नाम अलग-अलग, रूप अलग-अलल, पर सब है उसी एक परम सत्य, परम चेतन परमात्मा की अभिव्यक्ति। जिसे जो प्रिय लगे, वही उसका इष्ट है, उसका आलम्बन है। एक सूत्र में गुँथा यह वैविध्य ही भारतीय संस्कृति का वह मूल-तत्त्व है, जो इसे असाधारण रूप-सौन्दर्य, समृद्धि और 'सर्व-जन-ग्राह्यता' प्रदान करता है।

भारतीय संस्कृति की आधार-शिला है 'धर्म'। यह धर्म शब्द 'रिलीजन' या 'मजहब' या 'सम्प्रदाय' का पर्याय नहीं है। यह एक बृहत् और बहुआयामी धारणा है, जो मानव-जीवन के सभी पक्षों को समेटकर चलती है। भारत में धर्म संस्कृति का अंग नहीं है, अपितु संस्कृति ही धर्म की अभिव्यक्ति है। इस धर्म का प्रकाशन मानवीय चेतना और कार्य-कलाप के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में हुआ करता है। सामान्य व्यवहार के विधि-निषेधों से लेकर आध्यात्मिक जगत् की प्रतीकात्मक व्याख्याओं तक इस धर्म की गति है। धर्म की यह विराट् संकल्पना जिस संस्कृति के द्वारा वहन की जाती है, वह स्वाभाविक रूप से व्यंजना-प्रधान है, होगी ही, क्योंकि जिस प्रकार बहुआयामी धारणाएँ इस देश के चिन्तन के द्वारा प्रस्तुत की गई है, वे प्रतीकों के बिना व्यक्त नहीं हो पातीं। इस तथ्य के आलोक में देखें तो ज्ञात होगा कि सनातन धर्म (जिसका प्रचलित नाम हिन्दू-धर्म है) में जिन देवताओं की परिकल्पना है, वे सभी सत्य के किसी-न-किसी आयाम का प्रतीकात्मक रूप हैं, साथ ही मानव की अनेक लौकिक और लोकोत्तर कल्पनाएँ भी उनसे जुड़ी हुई हैं। ये देव-धारणाएँ हमारे मन को रोमांचित करती है, प्रेरित करती हैं और आश्वस्त करती हैं। ये हमारी चेतना का संस्कार कर, उसे बृहत्तर और उच्चतर लक्ष्यों की ओर प्रेरित करती है।

हिन्दू-धर्म में स्वीकृत देवताओं में सबसे अद्भुत व्यक्तित्व के स्वामी हैं भगवान शिव। अनेक नाम हैं, अनेक गुण-धर्म हैं; एक ऐसा बहुरंगी व्यक्तित्व है उनका, जिसमें देश के सारे पारम्परिक मूल्य, सारी समृद्धि और विविधता झलकती है, मानो उनका व्यक्तित्व एक ऐसा दर्पण है, जिसमें यह देश अपनी छवि देखता है। भगवान शिव देवाधिदेव हैं, साक्षात् परब्रह्म, महायोगी, परम कारुणिक और अवढर दानी हैं। महाकवि तुलसीदास ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'राम-चरित-मानस' का प्रारम्भ भगवान शंकर की वन्दना से ही किया है –

भवानी-शङ्करौ वन्दे
श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति
सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ।।

ज्ञानस्वरूप, नित्यात्मा, शुभंकर और परम गुरु भगवान शिव की कृपा प्राप्त कर द्वितीया का वक्र चन्द्रमा भी संसार में पूजित हो उठा है –

वन्दे बोधमयं नित्यं
गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि
चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ।।

हिन्दू-धर्म के सभी देवताओ में शिव की धारणा सम्भवत: सर्वाधिक प्राचीन है। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में ऐसी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें समाधिस्थ शिव की मूर्ति अंकित है। इस प्रकार उनकी 'महायोगी' के रूप में प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक धर्म में प्रारम्भ से ही उन्हें विशेष गरिमा प्राप्त रही है। रुद्र के रूप में वे प्रकृति की घोर शक्ति तथा प्रभंजन के अधिष्ठातृ-देवता हैं। वैदिक परम्परा उन्हें अग्नि से अभिन्न स्वीकार करती है। ऋग्वेद तथा शतपथ, ताण्ड्य और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में अग्नि और रुद्र की एकता प्रतिपादित की गई है। अग्नि ही वह प्राण-शक्ति है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है और मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति में चेतना का संचार करती है। इस अग्नि के दो रूप हैं – भयानक और सौम्य। भयानक पक्ष रुद्र और सौम्य पक्ष शिव के रूप में प्रकट होता है। वैदिक काल से पुराणों तक आते-आते शिव की इस धारणा में उत्तरोत्तर परिवर्तन आता गया। यद्यपि उनका घोर पक्ष भी बना रहा, किन्तु प्रधानता उनके शान्त-सौम्य और तपस्वी रूप की हो गई। भारतीय संस्कृति में शिव कल्याण, करुणा और लोक-संग्रह के प्रतीक बन गये। सहज ही प्रसन्न होनेवाले, परम उदार 'आशुतोष' रूप में उनकी प्रतिष्ठा हुई। शंकर का व्यक्तित्व अद्भुत है। अनुपम सौन्दर्यशाली कुन्द पुष्प, कर्पूर और चन्द्रमा के समान शुभ्र उनका वर्ण है –

कुन्द-इन्दु सम देह
उमा-रमण करुणा-अयन ।

उनके मस्तक पर विशाल जटाजूट है, जिस पर गंगा की

करने के लिए जब भगीरथ गंगा को पृथ्वी पर लाए, तो उन्होंने भगवान शिव से प्रार्थना की कि वे स्वर्ग से उतरती देव-नदी के वेग को अपने मस्तक पर सम्हालें। केवल उनमे ही यह शक्ति है कि वे गंगा का वेग सम्हाल सकते हैं। शंकर ने अपनी जटाये खोल लीं और गंगा उनकी सुदीर्घ अलकों में देर तक रास्ता ढूँढती रहीं।

यदि इस घटना की आध्यात्मिक व्याख्या की जाय तो – शिव की जटायें इस जटिल संसार चक्र का प्रतीक हैं, जिनमें सृष्टि के आदि से अन्त तक अबाध रूप से बहती प्राण-शक्ति की अजस्र धाराएँ भटकती रहती है और उनकी कृपा से ही मुक्त हो पाती है। भगवान शिव त्र्यम्बक अर्थात् तीन नेत्रोंवाले हैं। सूर्य, चन्द्र और अग्नि उनके तीन नेत्र हैं। **तृतीय नेत्र** ज्ञानाग्नि का प्रतीक है, जिसके द्वारा 'काम' भस्म होता है।

भगवान शिव के लिए '**दिगम्बर**' शब्द का भी प्रयोग होता है। दिगम्बर शब्द का अर्थ है – दिशायें ही जिनका वस्त्र हैं। यह विशेषण उनके निरपेक्ष, निराकार रूप का प्रतीक है। उनके अंग-अंग पर सर्पो के आभूषण हैं। **सर्प प्रतीक है काल का।** काल भी जिनके स्वरूप के अन्तर्गत है, ऐसा स्वरूप है उनका। **काल शब्द का एक अर्थ है 'समय' और दूसरा प्रचलित अर्थ है 'मृत्यु'**। शिव परम सत्य हैं। सत्य कालातीत है, वह काल के द्वारा सीमित नहीं है। सत्य नित्य है, अतः उसके साथ जन्म और मृत्यु का भी सम्बन्ध नहीं है।

भगवान शंकर के साथ शुभत्व और लोक-मंगल की भी धारणाये जुड़ी हुई हैं। इनमें सबसे प्रमुख है **हलाहल की घटना**। समुद्र-मन्थन के समय समुद्र के गर्भ से चौदह रत्न निकले। इनमें 'हलाहल' भी एक था। उस 'हलाहल' की भयंकर विषम-ज्वालाओं से सारी सृष्टि दग्ध और विषाक्त हो उठी। देवता और असुर दोनों ही त्राहि-त्राहि कर उठे। उस समय भगवान शिव ने करुणापूर्वक उस भयंकर 'हलाहल' का पान कर लिया। अपनी अद्‌भुत सामर्थ्य से उन्होंने इस भयंकर विष को अपने कण्ठ में ही रोक लिया। उस विष के प्रभाव से उनका कण्ठ नीला पड़ गया और वे 'नीलकण्ठ' हो गये। ऐसी अनूठी है उनकी लोक-वत्सलता।

इस समग्र सृष्टि का कण-कण शिव की तेजस्वी शक्ति से ओत-प्रोत है। शिव ही अपनी शक्ति से इस विश्व की रचना करते हैं। उनकी शक्ति सम्पूर्ण जगत् को चेतना के एक विशाल समुद्र की भाँति व्याप्त किये हुये है। इस शक्ति-मण्डल के मध्य वे ताण्डव-नृत्य करते हैं। उनकी सहस्र भुजायें दिग्-दिगन्त का स्पर्श करती है। **शक्ति की तरंगों की भाँति उनकी जटायें लहराती हैं**। पाद-न्यास से नक्षत्र-समूह धूलि-कणो की भाँति बिखर उठते है। उनके नृत्य की लय सूर्य के ऊर्जा व स्फोटों और नक्षत्र-तारकों की गति के रूप मे प्रकट होती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में होनेवाले विद्युत्-स्पन्दन उनके थिरकते चरणों की गति का अनुसरण करते हैं। अपेक्षाकृत सूक्ष्म आध्यात्मिक स्तर पर होनेवाला सुकुमार नृत्य उनकी शक्तिभूता पार्वती का लास्य है। ताण्डव और लास्य दोनो शिव की शक्ति का आवर्तन-स्पन्दन है; एक में आदि पुरुष महेश्वर का दुर्द्धर्ष पौरुष है, दूसरे में कमनीय उमा का नारी-सुलभ आकर्षण। इस प्रकार अनादि काल से विश्व के अणु मे शिव और शक्ति का, अर्ध-नारीश्वर-रूपा परम प्राण-शक्ति का ताण्डव और लास्य हो रहा है।

भारतीय संस्कृति में भगवान शिव की प्रतिष्ठा परम योगी के रूप मे रही है। देश-काल से निरपेक्ष योगियों व संन्यासियों के वे सहज आराध्य हैं, कैलाश पर्वत पर बैठे, अनन्त समाधि में डूबे हुए, अपनी समस्त वृत्तियों को समेटे, आत्मलीन, समाधिस्थ शिव का महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'कुमार-सम्भवम्' में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है –

कपाल-नेत्रान्तर-लब्ध-मार्गैः
ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।
मृणाल-सूत्राधिक-सौकुमार्यां
बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ।।
मनो-नवद्वार निषिद्धवृत्तिं
हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तम्
आत्मानमात्मनि अवलोकयन्तम् ।।

(कुमार-सम्भवम् – ३/४८,४९)

– "कपाल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र और नेत्रों से निकलती प्रकाश की जो किरणें भगवान शिव के ललाट को उद्‌भासित कर रही थीं, वे कमल-नाल की भाँति सुकोमल, जटाजूट के अग्रभाग में स्थित नवीन चन्द्रमा की रश्मियों को भी फीका कर रही थीं। ब्रह्मज्ञानी शरीर के नवद्वारों की वृत्तियो को स्तम्भित कर, मन को समाधि के द्वारा वश में कर, चित्तवृत्ति को हृदयाकाश में स्थित कर जिस शिव-तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, वे ही शिव स्वयं को स्वयं के भीतर देख रहे थे।"

भगवान शिव के इसी योगी रूप से सम्बद्ध है **मदन-दहन का आख्यान**। तारकासुर से पीड़ित देवताओं को ब्रह्मा ने बतलाया कि केवल शंकर से उत्पन्न पुत्र ही उनकी रक्षा कर सकता है। शंकर ठहरे योगी-वैरागी, जितेन्द्रिय और समाधिस्थ ! उन्हें विवाह के लिए मनाना ही कठिन कार्य था। देवों ने कामदेव की सहायता माँगी। कामदेव अपने वसन्त के साथ वहाँ पहुँचा, जहाँ परम योगी शिव समाधिस्थ थे। उनका परम तेजस्वी रूप देखकर कामदेव भयभीत हो उठा, उसका पुष्पधनु कब उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा, उसे पता ही नहीं चला। किसी तरह अपने को सम्हालकर उसने धनुष पर सम्मोहन का बाण साधा ही था कि उसी समय समाधि समाप्त कर भगवान

शिव ने नेत्र खोले। सामने अर्चना के लिए उपस्थित पार्वती को खड़ा पाया। सम्मोहन के प्रभाव के कारण शिव का चित्त कुछ विचलित हो उठा और उनकी दृष्टि पार्वती के बिम्ब-फल-सदृश अधरों पर क्षण भर को टिक गई, किन्तु तत्क्षण ही उन्होंने अपने मन को नियंत्रित कर लिया। अपने चित्त-विकार का कारण जानने के लिए उन्होंने जो चारो ओर देखा, तो कामदेव को खड़ा पाया। परम योगी, परम शान्त शिव कामदेव के इस अक्षम्य अपराध पर क्रोधोन्मत्त हो उठे, उनके तृतीय नेत्र से चिनगारियाँ बिखेरती हुई अग्नि की लपटे निकली और कामदेव जलकर भस्म हो गया।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्माऽवशेषं मदनञ्चकार ।। (कु.स. ३/७२)

– "हे प्रभो, क्रोध को रोकिये ! क्रोध को रोकिये !! – देवताओं की यह वाणी अभी नभ में गूँज ही रही थी, शंकर के कानों तक पहुँच भी न सकी थी कि उनके तृतीय नेत्र से निकली अग्नि की लपट ने कामदेव को जलाकर भस्मीभूत कर दिया।"

वस्तुत: शिव का व्यक्तित्व इतना विराट् है कि उसकी व्याख्या सम्भव नही है। वह जीवन की समग्रता का प्रतीक है, वे शुभ और अशुभ दोनों को स्वीकार करते हैं। अपवित्र भी उनके व्यक्तित्व का स्पर्श कर पवित्र हो उठता है –

चिता-भस्मालेपो गरलमशनो दिक्पट-धरः ।

चिता की भस्म उनका अंगराग है, विष ही भोजन है, दिशाएँ ही वस्त्र हैं। **उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह इतना व्यापक है कि विपरीत ध्रुवों को भी अपने में समेट लेता है।** यह भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता है कि उसके आदर्श-भूत लोकनायक जीवन की सम्पूर्णता को अपने में संजोये रहते हैं – वे चाहें राम हों, चाहे कृष्ण हों, या शिव, अन्यथा यह कैसे सम्भव है कि जो शिव परम वीतरागी और परम योगी हों, वे ही काम-कला के आदि आचार्य भी हों। जो अनभिव्यक्त अनाहत नाद के प्रतीक हों, वे ही संगीत के पंच रागों के आदि गायक भी हों। जो मूर्तिमान वैराग्य हों, वे ही मोहाविष्ट होकर सती का शव हाथों में उठाए त्रैलोक्य में भटकते फिरें। एक विचित्र-सा व्यक्तित्व है, जो जीवन के हर रंग, चेतना की सारी स्थितियों का दर्पण है।

इस आध्यात्मिक, दार्शनिक रूप के अतिरिक्त एक और रूप है उनका – 'लोकरंजक रूप', जिस रूप की छटा साहित्य और लोकगीतों में दिखलाई पड़ती है। असीम और अरूप परमात्मा को भी भाव-भीने सम्बन्धो में रूपायित कर लेना भारतीय संस्कृति की विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। यही कारण है कि शिव जिनका रहस्य योगी भी नही जान पाते, पार्वती के भोले-भाले 'बौरहे' वर बन जाते हैं, जो सर झुकाकर अपने ससुराल की स्त्रियो के व्यंग्य-वचन सुनते हैं। कामदेव को भस्म करनेवाले प्रलयंकर पाणि-ग्रहण के समय पार्वती का हाथ अपने हाथ में लेते समय इतने पसीने-पसीने हो जाते है कि पार्वती का हाथ उनके हाथ से फिसलने लगता है और तब शिव कैलाश से उतरकर हमारे हृदय में आ विराजते हैं –

यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता, देवापगा मस्तके,
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूति विभूषणः सुखकरः सर्वाधिपः सर्वदा,
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ।।

श्रीरामकृष्णाय नमो नमः

पं. सत्येन्दु शर्मा

साक्षात्धर्मस्वरूपाय धर्मार्थं धृतदेहिने ।
श्रीरामकृष्णदेवाय अस्मदीयं नमो नमः ।।

– साक्षात् धर्मस्वरूप और धर्म की स्थापना हेतु शरीर धारण करनेवाले श्रीरामकृष्ण देव को हम प्रणाम करते हैं।

योऽभूद् दाशरथिः रामो यश्च कृष्णः पुरा युगे ।
तं मामेवावजानीहि इति वक्त्रे नमो नमः ।।

– "जो पुरा काल में दशरथ-पुत्र राम और कृष्ण हुए थे, मुझे भी वही जानो" – ऐसा कहनेवाले को हमारा प्रणाम है।

देहमिममुपाश्रित्य माता काली विराजते ।
सर्वथा काल्यभिन्नोहम् इति वक्त्रे नमो नमः ।।

– "इस शरीर का आश्रय लेकर इसमे माँ-काली विराजमान हैं। मैं सब प्रकार से काली से अभिन्न हूँ" – ऐसा कहनेवाले श्रीरामकृष्ण को हमारा प्रणाम है।

कालीरेका च सर्वस्वा तस्या अंशश्च नन्वहम् ।
एवमुक्तवते तत्त्वम् अस्मदीयं नमो नमः ।।

– "एक काली ही सब कुछ है और मै उनका अंश हूँ" – ऐसा तत्त्व कहनेवाले श्रीरामकृष्ण को हम प्रणाम करते है।

ईशस्तु एक एवास्ति प्राप्त्युपायाः पृथक् पृथक् ।
प्रमाणितं कृतं येन अस्मदीयं नमो नमः ।।

– "ईश्वर एक हैं और उनकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न भिन्न हैं" – इस बात को जिन्होने प्रमाणित किया, उन्हे हमारा नमन है।

स्वचरितैरिदं विश्वं धर्माध्वानमदर्शयत् ।
दर्शित्रे विविधेष्वेकम् अस्मदीयं नमो नमः।।

– जिन्होंने अपनी जीवन-लीला के द्वारा विश्व को धर्म-पथ दिखाया और अनेकता मे एकता प्रतिपादित की उन भगवान श्रीरामकृष्ण को हमारा बारम्बार प्रणाम है। ❑

जीने की कला (३०)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। अनुवादक है श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत है। – सं.)

अध्याय ४

जैसी करनी, वैसी भरनी

"हमारी वर्तमान अवस्था हमारे विचारों का परिणाम है। विचार हमारे जीवन को रूपायित तथा निर्धारित करते हैं। यदि हमारे विचार अच्छे हों, तो सुख छायावत् हमारा अनुसरण करता है। यदि हमारे विचार बुरे हों, तो निश्चय ही दुख हमारा पीछा करेगा।" – *गौतम बुद्ध*

"मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है।"

– *ईसा मसीह*

"कर्म एक मनो-वैज्ञानिक नियम है और यह प्राथमिक रूप से मनो-जगत् में कार्य करता है, जिसमें भौतिक परिस्थितियाँ साधन-मात्र होती हैं तथा उसके द्वारा मानसिक उद्देश्य की पूर्ति होती है। आज जिसका अस्तित्व है, वह अतीत के असंख्य दिनों, युगों और कल्पों के अनुभव के परिणाम-स्वरूप है। क्योंकि जीवन में निरन्तरता है और चाहे वह भौतिक पदार्थों में अभिव्यक्त हो अथवा चेतना के अन्य क्षेत्रों में, उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है।" – *एडगर कैसी*

"अगर यह सत्य है कि (जीवन की) इस छोटी-सी अवधि में हम अपने भविष्य का निर्माण करते हैं, और अगर यह सत्य है कि हर कार्य के लिए कारण अपेक्षित है, तो यह भी सत्य है कि हमारा वर्तमान हमारे सम्पूर्ण अतीत का परिणाम है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के भाग्य-निर्माण के लिए मनुष्य के सिवा और किसी की जरूरत नहीं है।

"ज्ञान केवल अनुभव से प्राप्त होता है, जानने का और कोई उपाय नहीं। यदि हमने अपने जीवन में इसका अनुभव नही किया है, तो पिछले जन्मों में किया होगा।

"हममें से कोई भी शून्य से नहीं आया, इसलिए हम शून्य में विलीन नही होंगे। हम अनन्त काल से विद्यमान हैं और रहेंगे और विश्व-ब्रह्मांड में या इसके परे ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो हम लोगों का अस्तित्व मिटा सके। इस पुनर्जन्मवाद से हमें किसी तरह भी नहीं डरना चाहिए, क्योंकि वही तो मानव-जाति की नैतिक उन्नति का प्रधान सहायक है।"

"मनुष्य-मनुष्य के बीच और लोगों की ज्ञानार्जन करने की क्षमताओं के बीच पाई जानेवाली व्यापक विभिन्नता के लिए पुनर्जन्म के सिवा अन्य कोई भी सिद्धान्त जिम्मेदार नहीं है।

"शरीर का नाश होने के बाद आत्मा की गति का निर्णायक क्या होगा? उसने जो-जो कर्म किये हैं, जो-जो विचार किये हैं, वे ही उसे किसी विशेष दिशा में परिचालित करेंगे। यदि समवेत कर्मफल ऐसा हो कि भोग के लिए उसे एक नई देह गढ़नी पड़े, तो वह एक ऐसे माता-पिता के पास जाएगी, जिनसे वह उस शरीर के उपयुक्त उपादान प्राप्त कर सके, और उन उपादानों को लेकर वह एक नया शरीर गढ़ लेगी।"

एक तथ्यपरक बात

यदि हम नागफनी के पौधे लगाएँ, तो क्या हम उनसे गुलाबों की आशा कर सकते हैं? नहीं। अंजीर के बीज से अंजीर का पौधा ही अंकुरित होगा, आम का नहीं। यह नियम मानव-जीवन पर भी लागू होता है। हमारे अनेक जन्मों के इतिहास में हमारा वर्तमान जीवन एक कड़ी मात्र है। लम्बी यात्रा के दौरान गाड़ी जलपान, भोजन आदि के लिए कुछ स्थानों पर रुक सकती है। हमारा वर्तमान जीवन हमारी आत्मा की यात्रा में एक पड़ाव मात्र है। प्राचीन हिन्दू धर्म कर्म के सिद्धान्त की घोषणा करता है। हम अपने इस जीवन में विगत जीवनों के कर्मों के फल भोगते हैं। अन्य धर्मो के अनुयायी इस विचार को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार किसी व्यक्ति के जन्म या मृत्यु पूर्व-नियोजित नहीं, बल्कि संयोग मात्र हैं। परन्तु यह एक सार्वभौमिक नियम है कि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। अत: हमारे जीवन का निश्चित कारण होना चाहिए। इस विचार के समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यहाँ पर मैं केवल **एडगर कैसी** का सन्दर्भ दे रहा हूँ, जिनका एक ईसाई के रूप में पालन-पोषण हुआ था। यद्यपि ईसाई धर्म पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, परन्तु कैसी ने एक बड़े ही अद्भुत रूप से इनके बारे में विवरण दिया।

समाचारों का मौन विस्फोट

"अतीन्द्रिय अनुभवों के अत्यद्भुत दस्तावेज !"

"एक्स-रे जैसी नेत्रोंवाले एडगर कैसी !"

"सम्मोहन-निद्रा का मसीहा – वर्जीनिया तट का चिकित्सक !"

"आधुनिक द्रष्टा के अनुभव-पात्र में प्राचीन सिद्धान्त !"

"संस्कृत का कभी एक भी शब्द न सुना हुआ व्यक्ति सम्मोहित अवस्था में संस्कृत बोलता है !"

"एक पाश्चात्य अतीन्द्रिय-द्रष्टा ईसाई के पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त विषयक अभूतपूर्व अनुभव !"

ये हैं विभिन्न अमेरिकी समाचार-पत्रों की कुछ सुर्खियाँ, जो एडगर कैसी की अतीन्द्रिय शक्ति का परिचय देती हुई कुछ रिपोर्टों के साथ वहाँ समय-समय पर प्रकाशित हुई थीं।

१९ अक्तूबर, १९१० ई. को 'न्यूयार्क टाइम्स' नामक पत्र ने अपने रविवासरीय अंक के साहित्य खण्ड में एक अद्भुत रिपोर्ट प्रस्तुत की, जो इस प्रकार है –

"सम्मोहन की अवस्था में चिकित्सक में रूपान्तरित हो जानेवाले 'एडगर कैसी' एक दुर्लभ व्यक्ति हैं, जिनसे विश्व के चिकित्सक विस्मय-विमुग्ध हो गए हैं।" पत्र ने आगे लिखा, "एडगर कैसी ने जो चमत्कारिक शक्ति मानो अर्जित की है, वह देश के सुविख्यात चिकित्सकों का ध्यान आकर्षित करती है। चिकित्सा-विज्ञान से पूर्णतया अनभिज्ञ यह व्यक्ति सम्मोहन द्वारा प्रसूत निद्रा की अवस्था में रोगों का निदान करके उनके लिए दवाइयाँ भी बता देता है !"

उसे केवल रोगी का नाम, स्थान और पता मात्र ही जानने की जरूरत थी। फिर रोगी चाहे पास के कक्ष में हो या हजारों मील दूर किसी देश में, एडगर कैसी सम्मोहन-प्रसूत निद्रा के गहन स्तरों में जाकर अपनी अतीन्द्रिय दृष्टि से सब कुछ देख सकता था। सम्मोहन की अवस्था में ही वह बोलने लगता और उसी अवस्था में प्रश्नों के उत्तर भी देता। जिन स्थानों के विषय में उसने कभी सुना नहीं था, उनकी दृश्यावली तथा वर्तमान जलवायु का वर्णन करता; ऐसे लोगों के शारीरिक लक्षण बताने लगता जिन्हें उसने कभी देखा नहीं; ऐसा मानो उसे सब कुछ स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा हो।

एडगर कैसी, ईसा-मसीह का भक्त

कैसी का जन्म १८ मार्च, १८७७ को संयुक्त राज्य अमेरिका के केन्टुकी प्रान्त के हापकिन्स-विले में हुआ था। उसके माता-पिता निरक्षर थे। कैसी ने केवल आठवीं कक्षा तक की स्कूली शिक्षा पायी थी। उसने कई बार बाइबिल पढ़ी थी और वह ईसा-मसीह का एक निष्ठावान भक्त था। उसके मन में पादरी बनने की इच्छा थी, क्योंकि वह बीमार और पीड़ित लोगों की सेवा करने को इच्छुक था। स्कूली शिक्षा को जारी न रख सकने के कारण उसे पादरी बनने का विचार त्याग देना पड़ा था। पर उसे गाँव में एक कृषक का जीवन बिताना पसन्द नहीं आया। अत: वह नगर में जाकर एक पुस्तक-विक्रेता के यहाँ नौकरी करने लगा।

उसकी २१ वर्ष की आयु में एक ऐसी विचित्र घटना घटी, जिसने उसके जीवन के रुख को परिवर्तित कर दिया। उसे स्वर-यंत्र-शोथ (लैरिन्जाइटिस) नामक बीमारी के कारण उसकी बोलने की शक्ति चली गई। सारी चिकित्सा निरर्थक सिद्ध हुई। बोलने में अपनी असमर्थता से निराश होकर वह अपने गाँव लौट आया। उसने जीविका-निर्वाह के लिए नौकरी ढूँढ़ने में एक साल गँवा दिया। आखिरकार उसने फोटोग्राफी का व्यवसाय करने का निश्चय किया, क्योंकि उसमें बोलने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

उसी समय उस गाँव में हर्ट नामक एक जादूगर आया। वह सम्मोहन का विशेषज्ञ था और उस विद्या से रोगों की परीक्षा तथा चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। उसे एडगर कैसी की दयनीय दशा का पता चला। उसने कैसी को सम्मोहित करके उसी अवस्था में उसे कुछ सुझाव दिए। आश्चर्य की बात यह थी कि कैसी सम्मोहन की अवस्था में धाराप्रवाह बोल रहा था, परन्तु जागने पर उसकी वाणी पुन: लुप्त हो गयी। कार्य की अधिकता के कारण हर्ट उस मामले में और अधिक प्रयोग नहीं कर सका, पर लायने नामक एक अस्थि-चिकित्सक ने सम्मोहन के द्वारा इस मामले में और अधिक जानने का प्रयत्न किया। धीरे-धीरे कैसी का रोग ठीक हो गया। और इसने कैसी के जीवन में अद्भुत नये अध्याय का मार्ग खोल दिया।

चिकित्सक का उपहार

लायने ने अपने प्रयोग में कैसी को सम्मोहित करके उसी से उसकी बीमारी के कारणों तथा उसका इलाज जानने का प्रयास किया। तदनुसार, कैसी की सम्मोहन अवस्था में लायने ने उसे उसे सुझाव दिये। कैसी अपनी सम्मोहित अवस्था में ही बोला, "हाँ, शारीरिक दुर्बलता के कारण मेरी स्वर-तंत्री की मांसपेशियाँ कमजोर हो गई हैं, इसलिए मेरी वाणी बन्द हो गयी है। ऐसा सुझाव दीजिए कि उस ओर थोड़ा अधिक रक्त-प्रवाह होने लगे।" लायने ने तदनुसार सुझाव दिए। कैसी के शरीर में रक्त उर्ध्वमुखी होकर प्रवाहित होने लगा और उसकी छाती और गले का भाग क्रमश: बैगनी, गुलाबी और लाल रंग का हो गया। सम्मोहन-निद्रा में बड़ा हुआ कैसी इसके २० मिनट बाद अपने गले को सन्तुलित करते हुए कहा, "अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ। मुझे फिर से वाणी मिल गई है। अब ऐसा सुझाव दीजिए कि रक्त-प्रवाह सामान्य हो जाय और मैं सम्मोहन-निद्रा से जाग सकूँ।" लायने ने कैसी के निर्देशो का अनुपालन किया। कैसी उठ बैठा और एक वर्ष की बीमारी के बाद पहली बार स्वाभाविक स्वर में बोला। यद्यपि कुछ माह बाद उसकी बीमारी फिर लौट आयी, परन्तु लायने ने पहले की ही भाँति सुझाव देकर उसे सामान्य ढंग से बोलने में मदद की।

समर्थ गुप्तचर

कैसी अपनी सम्मोहित अवस्था में अपने शरीर तथा उसकी अवस्था को अत्यन्त स्पष्ट रूप से देख पाता था। लायने ने

सोचा कि कैसी क्या अपने समान ही दूसरों के शरीरों की अवस्था को भी उतनी ही सटीकता के साथ समझ सकता है ! लायने सम्मोहन का इतिहास जानता था। फ्रांस में मेस्मर के अनुयाई द्वारा किये गए वैसे ही एक प्रयोग के बारे में उसने पढ़ रखा था। इसलिए लायने भी वैसा ही प्रयोग करने को अग्रसर हुआ। वह स्वयं भी काफी काल से पेट-दर्द से पीड़ित था। उसने कैसी को सम्मोहन-निद्रा में सुलाकर अपने रोग के इलाज के विषय में जानने का प्रयत्न किया। कैसी ने सम्मोहन की अवस्था में लायने के शरीर की आन्तरिक संरचना का वर्णन किया और ऐसा उपचार सुझाया, जिसे पहले किसी भी चिकित्सक ने नहीं सुझाया था। कैसी द्वारा बतायी गई दवा से लायने केवल तीन सप्ताह में ही ठीक हो गया। इस प्रकार कैसी में निहित अद्‌भुत चिकित्सकीय शक्ति प्रकाश में आई।

पड़ोस के ही सेलमा ग्राम की अल्बामा नामक एक महिला सहसा अपना मानसिक सन्तुलन खोकर पागलों-सा व्यवहार करने लगी। चिकित्सकीय इलाज व्यर्थ सिद्ध हुआ। कैसी को इसकी सूचना मिली। वह सदा की भाँति उत्तर की ओर सिर करके लेट गया और नियमित साँस लेते हुए सम्मोहन-निद्रा में चला गया। तब कैसी से अल्बामा की हालत के बारे में पूछा गया। कैसी की एक्स-रे-दृष्टि ने पता लगाकर बताया कि उस महिला की निकल रही अक्ल-दाँत से उसके मस्तिष्क की ओर जानेवाली एक नस दब रही थी, इसलिए उसकी मानसिक अवस्था ऐसी हो गयी थी। महिला के पागलपन को ठीक करने के लिए कैसी ने उसके उस दाँत को निकाल देने का सुझाव दिया। ऑपरेशन करके दाँत निकाल देने पर वह महिला स्वस्थ हो गयी और इससे कैसी की बातों का सत्यापन भी हो गया। कैसी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी।

कोई संयोगमात्र नहीं

इसमें उल्लेखनीय बात यह थी कि कैसी को किसी चिकित्सा-शास्त्र का जरा भी ज्ञान न था, परन्तु अपनी सम्मोहित अवस्था में वह धाराप्रवाह चिकित्सकीय शब्दावली का प्रयोग करता था। वर्षो से बीमारियों से पीड़ित रह चुके लोग भी कैसी द्वारा बताये उपचार से दो-तीन महीनों में ही स्वस्थ हो जाते। जिन लोगों को बिल्कुल भी राहत नहीं मिली, उन्होंने वस्तुत: उसके निर्देशों का पालन ही नहीं किया था।

यदि ऐसी अद्‌भुत घटनाएँ केवल एक-दो बार घटतीं, तो उसे संयोग मात्र मान लिया जाता। परन्तु कैसी ने ४३ वर्षों तक अपनी अतीन्द्रिय शक्तियों की सहायता से असंख्य रोगियों को सलाहें दीं। ९०,००० टंकित पृष्ठों में इसका विवरण लिपिबद्ध है। कहते हैं कि अमेरिका के २१ नगरों के करीब ३७ अध्ययन-दल उसके वक्तव्यों का अध्ययन कर रहे हैं। कैसी द्वारा सहायता प्राप्त लोगों के बयानों का गहन अध्ययन करने के बाद जीना सरमिनारा नामक एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने उस विषय पर तीन पुस्तकें लिखीं – Many Mansions (अनेक आवास), Many Lives and Many Loves. (अनेक जीवन, अनेक प्रेम) और The World Within (अपने भीतर का संसार)। १९५० में न्यूयार्क की विलियम स्लोन एण्ड कम्पनी ने उन्हें मुद्रित किया। तब से उनके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। दुर्भाग्यवश, ये पुस्तकें भारत में सुपरिचित नहीं हैं। यहाँ तक कि 'रीडर्स डायजेस्ट' नामक लोकप्रिय मासिक पत्रिका में भी इस पर कोई लेख प्रकाशित नहीं किया गया। क्या इसके पीछे कोई राजनीति है? इस विषय में जानकार लोग ही वास्तविकता से अवगत करा सकेंगे।

सेवा का जीवन

कैसी की तीव्र इच्छा थी कि वह दुखी और पीड़ित लोगों की यथासम्भव मदद करे। उसने अपनी शक्ति का कभी दुरुपयोग नहीं किया। अनेक संस्थाओं ने बड़ी धन-राशियों के साथ उसे प्रलोभन दिया कि वह थियेटर या मंच पर अपने कार्यों का प्रदर्शन करे, पर कैसी ने निर्ममतापूर्वक उन प्रस्तावों को ठुकरा दिया। अनेक लोग उसे घुड़दौड़ में भाग लेनेवाले घोड़ों के बारे में भविष्यवाणी करने को तंग करते रहते थे। कई लोग तेल के कुएँ खोदे जानेवाले स्थानों की पहचान करने के लिए उसकी चमत्कारिक शक्तियों को काम में लाना चाहते थे। उसने दो-एक बार इन जागतिक उद्देश्यों के लिए अपनी शक्तियों के प्रयोग की चेष्टा भी की, परन्तु इससे उसके सिर में घोर पीड़ा होने लगी और उसने निष्कर्ष निकाला कि 'अपनी शक्तियों का ऐसा दुरुपयोग उसके स्वभाव के प्रतिकूल है' और उसने इसे तिलांजलि दे दी। कैसी एक सरल विश्वासयुक्त ईमानदार व्यक्ति था और कभी-कभी उसे सन्देह होता कि उसकी अतीन्द्रिय शक्तियाँ कहीं प्रेतात्माओं की शरारत का परिणाम तो नहीं हैं ! परन्तु उसने देखा कि सम्मोहन-प्रसूत निद्रा की अवस्था में दी गई प्रत्येक सलाह से पीड़ित लोगों को निरपवाद रूप से लाभ हुआ है। इस प्रकार उसने केवल मानवता के कल्याण हेतु ही अपनी शक्ति का सदुपयोग करने का संकल्प किया। वह दार्शनिक समस्याओं के समाधान की अपेक्षा रोगों के कारणों और उनके उपचारों की खोज करने में अधिक रुचि लेता था। ❖ (क्रमशः) ❖

(अगले अंक मे एडगर कैसी के जीवन की विविध घटनाओ के विवरण)

मानवता की झाँकी (१२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवो को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

अमरनाथ-यात्रा की दिव्य स्मृतियाँ

(गतांक से आगे)

काश्मीर की सुन्दरता जो विश्वविख्यात है, वहाँ के आदि निवासी कौन थे, यह तो नहीं मालूम, परन्तु इस समय वहाँ जो आर्यपुत्र बसते हैं, (उनका धर्म कोई भी हो) वे सुन्दर तनु वाले हैं। निर्धनता, अत्याचार, अस्वच्छता आदि उनके दैहिक सौन्दर्य को नष्ट नहीं कर सकी है। संन्यासी ने अपनी मण्डली के साथ श्रीनगर के सौन्दर्य-स्थल डल-लेक, शंकर टोच, शाही बाग आदि घूम-घूमकर देखे, खूब आनन्द मिला। श्रीनगर से इस्लामाबाद के रास्ते में केसर की खेती और प्राचीन सूर्य-मन्दिर के भग्नावशेष भी देखे, जिसे महाराजा मान्धाता का बनाया हुआ बताते हैं। अच्छा लगा। ये सब स्थल देखते हुए मण्डली मार्तड पहुँची, वहाँ मत्तंड या ऐसा ही कुछ बोलते हैं। यहाँ सभी अमरनाथ-यात्री एकत्र हुए थे और अपने अपने तम्बू में ठहरे थे। स्थल मनोरम, सोते भी बहुत सुन्दर, खूब आनन्द मिला। संन्यासी से परिचित अनेक सन्त भी मिले, उनमें गुरुभाई भी थे, पर संन्यासी अपनी मण्डली के साथ ही रहा। वहाँ ४-५ दिन ठहरना पड़ा, फिर राजकीय व्यवस्था हो जाने के बाद आगे चलने का हुक्म मिला। तीन हजार से भी अधिक स्त्री-पुरुष यात्री शाम तक एक साथ चले और सभी एक ही जगह पर तम्बू डालकर ठहरे, रात में बहुत ही अच्छा दिखता था – एक छोटा-सा तम्बुओं का शहर, कोई भजन गा रहे हैं, कोई अग्नि ताप रहे हैं और कोई बातें कर रहे हैं। सन्त भी अपनी अपनी मण्डली में ठहरे हैं। कोई कोई तर्क-वितर्क से अपने अपने सिद्धान्त प्रमाणित करने की कोशिश में लगे हैं। नाना वेष, नाना रूप, नाना बोली, नाना वर्ण तथा पेशों के नर-नारी सब साथ चल रहे हैं, मन में है बस श्री अमरनाथ।

पहलगाम में सूचना मिली कि लकड़ी से तैयार किया हुआ कम्म-चलाब (कामचलाऊ) पुल अधिक वर्षा के कारण बह गया है। नदी में पानी का जोर अभी बहुत है, इसलिए फिर लकड़े डालकर पुल बाँधने में देरी होगी, तब तक कोई नदी पार जाने की चेष्टा न करे, खतरनाक है। पहलगाम सुन्दर स्थान है। तिब्बत से काश्मीर आते समय यही पहला ग्राम है, इसलिए शायद पहलगाम। परन्तु जोरों की वर्षा चालू रहने के कारण हम पहलगाम के सौन्दर्य का उपभोग न कर सके, किसी तरह अपने अपने तम्बू में समय बिताया। रसोई पकाने में भी कठिनाई थी। लकड़ियाँ गीली होने के कारण सभी फूँक-फूँककर परेशान थे। वह सन्त-मण्डली, जिसमें २०-२२ जने थे और संन्यासी के गुरुभाई भी शामिल थे, एक दिन रात को नौ बजे संन्यासी जब उनसे मिलने गया, तो सब अनाहार – भूखे पड़े थे, खाने के नाम पर दिन भर कुछ भी नही मिला था। संन्यासी ने स्वामी शान्तिनाथ जी से कहा, "क्यों, क्या बात है? आप लोगों की सारी व्यवस्था तो राज्य के धर्मार्थ दफ्तर की ओर से हुई है, फिर ऐसा क्यों? चलिए कैंप सुपरिंटेंडेंट – व्यवस्थापक से मिलें।" नाथजी तो राज्य के खास मेहमान थे और उनके मार्फत ही उस मण्डली को तम्बू आदि की सुविधाएँ प्राप्त हुई थीं।

शान्तिनाथ जी थे प्रखर विद्वान् और त्यागी संन्यासी थे – गोरखपुर के बाबा गम्भीरनाथ जी के शिष्य। इस मण्डली में नाथजी का भी एक गुरुभाई शामिल था। ... इतने में जम्मू के एक जज साहब आपसे मिलने को वहाँ पधारे। स्वामी विवेकानन्द का दर्शन भी इन जज साहब ने किया था, तब आप विद्यार्थी थे। उन्होंने सारा हाल सुनकर तत्काल अपना रसोइया बुला लिया और पूरियाँ तथा सब्जी बनवाकर सबको तृप्तिपूर्वक भोजन कराया। रात को ११ बजे, जब सभी सन्त खा-पीकर उठ रहे थे, तो राज्य के लंगर (धर्मार्थ भोजनालय) का आदमी बुलाने आया। वह कहने लगा, "आप लोगों ने पहले से सूचना क्यों नहीं दी कि अपनी रसोई अलग बनाएँगे, अब इतना खाना बर्बाद होगा।"

इस पर संन्यासी से रहा नहीं गया, उसने सुना दिया –"सारे दिन भर के भूखे सन्तों को भोजन कराने का क्या अभी समय हुआ है? यह तो जज साहब ने मेहरबानी कर व्यवस्था की।" ... जज साहब का नाम सुनते ही वह घबड़ाया ओर नरम होकर कहने लगा – "क्या करें साहब, लकड़ियाँ गीली हैं और आदमी भी कम हैं, बहुत लोगों की रसोई करनी पड़ती है, इसलिए देरी हो गई।" और वहाँ से खिसक लिया।

दूसरे दिन सुबह जरा धूप निकली और सभी तीन दिनों की तकलीफ क्षण में भूलने लगे। चाय-पानी से निपटकर संन्यासी पूर्वोक्त मण्डली से मिला और शान्तिनाथ जी को समझा-बुझाकर साथ लिए जाकर कैम्प-व्यवस्थापक से मिला। डॉक्टर तथा सुपरिंटेंडेंट महाशय बाहर कुर्सी पर बैठे धूप का सेवन तथा आपस में गुप्तगू कर रहे थे। ठण्ड के कारण धूप बड़ी मीठी लग रही थी। चपरासी ने कुर्सी लगा दी। बैठते ही उन्होंने आगमन का कारण पूछा, संन्यासी ने दुर्व्यवस्था और

आहारादि की तकलीफ बताते हुए कहा – "रोटी कच्ची रहती है, खाकर बहुत-से सन्त बीमार हो गए हैं" आदि। सुनकर उन्होंने पूछा – "इसके लिए जिम्मेवार कौन है?" (स्वामी शान्तिनाथ जी ने पहले से ही कह दिया था कि स्वयं बात नहीं करेंगे, संन्यासी को ही करना पड़ेगा।)

व्यवस्थापक – "मुझे तो कुछ मालूम नहीं, किसी ने आज तक कहा नहीं।"

संन्यासी ने सुना दिया – "यह तो आपका फर्ज है कि आप स्वयं ध्यान रखें। यदि कोई महाराजा साहब या मंत्रीजी से यह बात कर दें, तो जवाब आप ही को देना होगा।" डॉक्टर ने कहा, "बीमार तो बहुत हुए हैं – दस्त की शिकायत है, शायद कच्ची रसोई के कारण ही होगा।" व्यवस्थापक ने प्रमुख रसोइये को बुलवाया और सारी शिकायत सुनाकर पूछा, "ऐसा क्यों हो रहा है, और इसके लिए क्यों न तुम्हें दण्डित किया जाय।" उसने कहा – "क्या करें साहब, मेरे जो दो सहकारी हैं, वे बात ही नहीं सुनते, मनमानी करते हैं।" व्यवस्थापक जी – "बुला लाओ दोनो को।" बुला लाया और तीनों एक लाइन में खड़े हो गए।

– "स्वामीजी लोग कह रहे हैं कि इस प्रकार दुर्व्यवस्था हो रही है और तुम्हारा यह हेड कह रहा है कि तुम दोनों बात नहीं मानते हो। क्यों? क्या समझे हो? (हेड से) तुमने मुझे बताया क्यो नही कि ये बात नहीं मानते? तुम भी गुनहगार हो।"

यह कहकर उन्होंने एक छड़ी उठाई और सटासट दो-चार जमा दी। हेड ने अपने पास खड़े सहकारी को खींचकर जोर से एक थप्पड़ मारा और उसकी बगल में खड़े सहकारी को लात मार गिरा दिया।

व्यवस्थापक, डॉक्टर और दोनों संन्यासी हँस पड़े। अजब तमाशा था! इसके बाद आगे के लिए सावधान कर व्यवस्थापक ने उन्हें छोड़ दिया। अब डॉक्टर ने पूछा, "क्यों स्वामीजी यह क्या हुआ? एक दूसरे को दण्डभागी बनाया?"

संन्यासी, "जी हाँ, गुलामी मनोवृत्ति ऐसी ही हुआ करती है, कोई अपने सिर पर उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहता, दूसरे पर टालकर स्वयं निर्दोष रहना चाहता है। यदि कोई आदमी न मिले, तो भगवान पर लगा देता है; बस, स्वयं दोषों से मुक्त हो जाता है। पर अच्छी कीर्ति या सुनाम मिलने की सम्भावना हो, तो औरों का किया हुआ काम अपना बताने में शर्म नहीं मानता। यही है गुलामों का स्वभाव। हम पढ़े-लिखे लोग भी इस मनोवृत्ति से मुक्त नहीं हैं। पर जरा स्वतंत्र अँग्रेजों को देखिए, वे अपना दायित्व कभी अस्वीकार करेंगे नहीं। दूसरे अधीनस्थ कर्मचारियों के सिर लादकर स्वयं मुक्त रहने की कोशिश उनमें विरला ही कोई करता होगा।" ये सारी बातें व्यवस्थापक पर भी लागू होने से वह नीची नजर चुप बैठा रहा। चर्चा को आगे न बढ़ाकर संन्यासी तथा स्वामी शान्तिनाथ जी अपने अपने स्थान को चल दिए।

उस दिन धूप अच्छी निकली हुई थी, संन्यासी भोजन के बाद पहलगाम के निकट स्थित देवदार-वन्न में घूमने चला। अन्दर-ही-अन्दर खूब दूर तक चला। यह वन शायद तिब्बत की सीमा तक है। केवल देवदार के सुन्दर-सुशोभन वृक्ष, मानो देव-मन्दिरों का समूह एक साथ न हो, ऐसे ऊँचे-ऊँचे शिखर-सदृश वृक्षों के ऊपरी भाग के दृश्य और साथ में मन्द-मन्द सुशीतल वायु के साथ सुगन्ध ने प्राण-मन को आमोदित कर दिया। इतने में घोर अरण्य के बीच खाकी रंग के दो छोटे तम्बू दीख पड़े। शायद फॉरेस्ट-गार्ड – वन-रक्षक पुलिसवाले होंगे। और निकट गया तो देखा कि कुर्सी पर एक अंग्रेज युवती बैठी है और सामने बर्फीले पहाड़ पर सूर्यास्त समय की अपूर्व लालिमा – तूलिका से उस दिव्य दृश्य की छवि आँकने की चेष्टा में तन्मय है। संन्यासी ने देखा

पुरखों की थाती

आदि-मध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं जगत्।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत् सदा ।।

– चूँकि इस जीवन का आदि, मध्य तथा अन्त दुःखों से परिपूर्ण रहता है, अत: सब कुछ त्याग करके निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ रहना चाहिए।

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा-सन्तुष्ट-मनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।।

– जो संचय नहीं करता, जो मन तथा इन्द्रियों को शान्त रखता है, जो सबके प्रति सम-भाव रखता है और जिसका मन सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, उस व्यक्ति के लिए सभी दिशाएँ अर्थात् सारा जगत् ही सुखमय है।

अनन्तानीह दुःखानि सुखं तृणलवोपमम् ।
नातः सुखेषु बध्नीयात् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ।।

– इस संसार में दुःख अनन्त हैं और सुख की मात्रा घास के एक टुकड़े के समान है, अत: व्यक्ति को दुखों को ध्यान में रखते हुए सुखों में नहीं बँधना चाहिए।

अभिमानकृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ।।

– हे राजन्! अहंकार से प्रेरित होकर किया गया कर्म फलदायी नहीं माना जाता; त्याग से युक्त सारे कर्म महा-फलदायी कहे गये हैं।

– पास में राइफल तथा रिवाल्वर रखा है और कमर में खुखरी-जैसी कटारी बँधी हुई है । एक तम्बू से दाढ़ीवाले दो मुसलमान खानसामा बाहर निकल आए । एक ने संन्यासी के पास आकर धीरे से पूछा, "क्या आप मेम साहब से मिलना चाहते हैं?"

– "नहीं, कोई काम नहीं, पर मेम साहब इस घोर जंगल में क्यों आई हैं और इनके साथ कोई साहब भी हैं क्या?"

– "नहीं, और कोई नहीं, हम दो जने हैं । मेम साहब बड़े जनरल साहब की लड़की है, क्षयरोग से पीड़ित है । डाक्टरों ने कहा है कि देवदार की हवा से बीमारी मिट जाएगी, इसलिए आयी हैं । हम सेवा करते हैं और कभी-कभी जनरल साहब भी आते हैं, सामान भिजवाते रहते हैं। आप बात करना चाहें, तो कहूँ?"

– "नहीं, नहीं, कोई जरूरत नहीं और इस समय चित्र आँकने में तन्मय हैं, विक्षेप करना अनुचित होगा ।"

– "मेम साहब दिन भर चित्र आँकती रहती हैं, किताबें खूब पढ़ती हैं, कभी-कभी दूर पहलगाम तक भी घूमने चली जाती हैं, पर डॉक्टरों ने ज्यादा घूमने से मना किया है ।"

संन्यासी विदा लेकर अपने निवास-स्थान को वापस चला, पर मन में सोचता-विचारता रहा – सुन्दरी युवती स्त्री, बीमार और इतने घोर वन के बीच दो परदेशी जवान नौकरों के साथ ठहरी हुई है ! डर नहीं । यदि नौकरों के मन में बद-ख्याल आ जाय, तो पास में जो अस्त्र हैं, उनसे भी यह कोमल नारी भला क्या कर सकती है? क्या यह अपनी रक्षा कर सकेगी? पर इस घोर एकान्त स्थान में निर्भय होकर रहती है ।

पिता फौजी आदमी है – बड़ा जनरल साहब, पीठ-पीछे उसका बल तो है, पर दूर रहकर दुष्टों के हाथ से कैसे बचाया जा सकता है? बाद में शायद दण्ड भी दे सके, लेकिन भगवान न करे, पर यदि कोई दुष्टाचारी सतावे, तो क्या यह युवती आत्मरक्षा कर सकेगी ! ... अहा ! अगर यह माता हुई, तो इसके लड़के-बच्चे कैसे निर्भीक-बलवान होंगे ! तीनों लोकों में उन्हें डरानेवाला कोई न होगा । धन्य हो अँग्रेज कुमारी ! नमस्कार ! हमारी भारतीय नारियाँ क्या ऐसा साहस कर सकती हैं ! किसी जमाने में किया भी होगा, पर वर्तमान में इस प्रकार परधर्मा परदेशी बलवान पुरुषों के साथ क्या कोई नारी घोर जंगल में अस्त्र-शस्त्र सज्जित होकर भी रह सकेगी । ओ भारत-माता, कब तुम्हारी पुत्रियाँ वैसी तेजस्विनी-निर्भय-निश्शंक हो इस धरती पर फिरेंगी । हमारे महापुरुष भी तो वैसा साहस नहीं कर सकते, भय से मरते हैं (वन में रहनेवाले आदिवासियों की बात अलग है) । ओ माता, निर्भय करो, निश्शंक करो ! सारी दुर्बलता, सारी कमजोरियाँ हरो, मर्द बनाओ ! ... स्वामी विवेकानन्द ने भारतवासियों से बारम्बार कहा है – "दुर्बलता छोड़ो, क्लीवता छोड़ो, मर्द बनो, मर्द बनाओ, दुर्बलता ही पाप है, शारीरिक-मानसिक या नैतिक दुर्बलता सब पाप है, छोड़ो, उठो, जाग्रत हो आगे बढ़ो ।"

संन्यासी जब शिविर के तम्बू में पहुँचा, तब तक पृथ्वी पर अन्धकार-पट छा गया था । शिविर में सब चिन्तित हो रहे थे, दो-एक बार तलाश भी कर चुके थे, अब देखकर सब निश्चिन्त हुए । – "कहाँ गए थे महाराज?" सब सुनने के बाद बोले – "अरे, उधर जंगली जानवर, तिब्बती डाकू भी हैं, खतरा बहुत है, वैसे नहीं जाना चाहिए ।" संन्यासी मन-ही-मन हँसा, क्योंकि रास्ते या जंगल के बीच इन यात्रियों में से कोई अथवा अन्य कोई भी आदमी मिला नहीं था सिवा उस अँग्रेज युवती और उसके दो खानसामों के ।

पहलगाम से आगे बढ़े । दो दिन में पंचतरणी पहुँचकर तम्बू डाले । बस, अमरनाथ अब पास में ही है, सुबह सब पहुँच जाएँगे । आनन्द ! आनन्द ! पंचतरणी में स्नान से निबटे ही थे कि वर्षा की धार उतरी । तीर्थयात्री सब परेशान ! जमीन पहले से ही बिल्कुल गीली थी, फिर बारिश होने से अब और रसाल हो गई । दो-दो तीन-तीन कम्बल बिछानेवाले भी परेशान थे, पर सरदार सन्त सिंह जी ने जैसा कहा था संन्यासी के कम्बल पर पानी का जरा भी असर नहीं हुआ, वह आराम से सोया बैठा, सुबह वर्षा बन्द हो गयी थी, पर ठण्ड इतनी थी कि कम्पन-थरथराहट को रोक पाना मुश्किल था, अस्तु, 'जय शंकर, जय अमरनाथ' – बोलते हुए मण्डलीवाले निकल पड़े । मण्डली के कई जनों से सुपरिचित एक सज्जन, जो पेशावर के पास कालाबाग शहर के एक विशिष्ट व्यापारी थे, बीच की चट्टी चन्दनबाड़ी में आ मिले । हृदय-रोग से ग्रस्त होने के बावजूद इन्होंने यह सोचकर साहस किया था कि टट्टू या डण्डी (पालकी जैसी सवारी, जो चार आदमी उठाते हैं, इसे प्रायः एक कुर्सी के दो तरफ बाँस बाँधकर बनाया जाता है) मिल जाएगी, पर बहुत तलाश करने पर भी कोई डण्डीवाला नहीं मिला, सब पहले से ही आरक्षित थे और अमरनाथ तक टट्टू तो जा ही नहीं सकता था, वहाँ का रास्ता उसके लिए नहीं है । उनकी शारीरिक व्याधि की बात सुनकर मण्डली के सब लोगों ने उनसे अमरनाथ-दर्शन की आशा छोड़ देने को ही कहा, क्योंकि एक तो काफी चढ़ाई थी और बरसात के कारण पगडण्डी का रास्ता फिसलनदार हो जाने से खतरनाक हो गया था । संन्यासी ने समझाया, पर वह हठ करता रहा कि चाहे जो भी हो जाय, इतनी दूर आकर बिना दर्शन वह नही जाएगा । जल्दी पहुँचना था, वापस भी जल्दी लौटना था, अतः उसको तम्बू में ही छोड़कर सब चल दिए । इस बात का भी ख्याल था कि फिर वर्षा शुरू हो जाने से परेशान होना पड़ेगा ।

❖ (क्रमशः) ❖

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (१/२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानों का अनुलिखन)

उपनिषद् में पहले ही बता रहे हैं –

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्
अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।। (मु. १/१/१)

उपनिषद् का प्रारम्भ इसी से हो रहा है। फिर कहते हैं –

अथर्वणे यां प्रवदेत् ब्रह्माथर्वा
तां पुरोवाच अंगिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह
भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ।। (मु. १/१/२)

ये प्रथम दो मन्त्र हैं। गीता आदि के वचन श्लोक कहे जाते हैं, किन्तु उपनिषद् के वचन मन्त्र कहे जाते हैं। मन्त्र मनुष्यों के द्वारा बनाए गये नहीं हैं। इनको ऋषियों ने तपस्या द्वारा देखा है – **ऋषयः मन्त्र-द्रष्टारः** । देखना किसको कहते हैं? एक तो आँखों से हम देखते हैं। फिर बहुत सी बातें अपने हृदय में अनुभव करते हैं। इन ऋषियों ने जब तपस्या की और अपने चित्त को शुद्ध कर लिया, उनके हृदय में जब कोई वासना नहीं रह गई, उनका हृदय अहंकार से शून्य हो गया, अहंकाररहित हो गया, तब उनके हृदय में ज्ञान उद्भासित हुआ। बाहर से किसी ने नहीं बताया। किसी ने उनको पढ़ाया नहीं, जैसे आप हम पढ़ते हैं। यह ज्ञान उनके अन्तःकरण में उद्भासित हुआ, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सत् चित् आनन्द हमारा स्वरूप है। उस स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के कारण ऋषियों को जो ज्ञान हुआ, अपने भीतर से उन्होंने इन मन्त्रों को देखा, इसका अनुभव किया। इसलिए ये मन्त्र कहे जाते हैं। श्लोकों को, पंडितों ने, विद्वानों ने, आचार्यों ने विचार करके लिखा है। **ब्रह्मादेवानां प्रथमः संबभूव** – सारे देवताओं में पहले ब्रह्मा प्रगट हुए। ब्रह्मा के विषय में आप हम सभी जानते हैं कि ये सृष्टि के आदि कर्ता हैं। कई बार हमारे मन में आता है कि ये सृष्टि के आदि कर्ता हुए तो ब्रह्मा को किसने बनाया? ब्रह्मा को किसी ने बनाया होगा। मनुष्य अपने अनुभव के आधार पर ही सोचता है। हम अनुभव के बाहर किसी ज्ञान के विषय में नहीं सोच सकते। अनुमान भी तो अनुभव के आधार पर ही होता है। जो हमको ज्ञान है, उसके आधार पर अनुमान करते हैं। व्यक्ति ने देखा कि पक्षी उड़ते हैं। पक्षी उड़ने के अनुभव से हवाई जहाज बनाने का अनुमान हुआ और हवाई जहाज बन गया। उस अनुभव से आज इतने बड़े बड़े हवाई जहाज बने हैं और उपयोगी भी होते हैं। अनुभव के आधार पर प्राप्त किया गया अनुमान का ज्ञान उपयोगी होता है। ब्रह्मा देवताओं में या सृष्टि में पहले प्रगट हुए। यहाँ हमें यह समझ लेना पड़ेगा कि हमारी दृष्टि सृष्टि-रचना के बाद की है। हमने जन्म लिया, सृष्टि को देखा। संसार जैसे सभी कार्यों का कारण है, वैसे ही हमारे जन्मों का भी कारण हमारे माता-पिता हैं। इसी तरह ब्रह्मा के माता-पिता हुए होंगे। फिर उनके माता-पिता हुए होंगे। फिर उनके माता-पिता कौन थे? फिर उनके माता-पिता कौन थे? ऐसे अनन्त अनादि प्रश्न चलेंगे। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सृष्टि उत्पत्ति का एकमात्र कारण यही नहीं है। जो सृष्टि में कार्य-कारण दिखता है। हम इसी उपनिषद् में बाद में पाते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण क्या है? –

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्याम् ओषधयः संभवन्ति ।
यथा शतः पुरुषात्केशलोमानि
तथा अक्षरात् संभवति इह विश्वम् ।। (मु. १.१.७)

इसकी व्याख्या में आगे पायेंगे। आप ब्रह्मा और ब्रह्म दोनों शब्दों से परिचित होंगे। जब आ मात्रा रहती है तो ब्रह्मा। जब आ मात्रा हटा देते हैं तब वह शब्द ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म का तात्पर्य है, आदिशक्ति, परम सत्य जिस सत्य का कोई कारण नहीं है। कारण रहित अनादि अनन्त परम सत्ता। ऐसी सत्ता को ही हमारे उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। कोई उसे ईश्वर, अल्ला, गॉड कहता है, पर ईश्वर, अल्ला, गॉड की तुलना में ब्रह्म की धारणा बहुत बड़ी है। आचार्यगण हमें बताते हैं कि ब्रह्मा का तात्पर्य है, अनन्त विस्तार – बड़े-से-बड़ा। जितनी भी हम कल्पना कर सकें। जीवन में बड़प्पन की सभी दृष्टियों से भी बड़ा। अभी मनुष्य सबसे बड़ी की कल्पना आकाश से कर सकता है। अब तो महाकाश की बात है। महाकाश से बढ़कर हम कोई कल्पना ही नहीं कर सकते। ब्रह्म उस महाकाश से भी बड़ा है। आकाश, महाकाश आदि सब कुछ उस ब्रह्म के भीतर हैं। जो बड़े-से-बड़ा है, वह ब्रह्म है। ऐसा ब्रह्म अकर्ता है। क्योंकि करने के लिए तो कुछ इच्छा चाहिए। ब्रह्म की कोई इच्छा नहीं होती। उसी परम सत्ता में जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, उसमें जिस दिन यह संकल्प उठा – **एकोऽहम् बहूस्याम्** – एक हूँ, बहुत हो जाऊ। इस सृष्टि की रचना करूँ। उस ब्रह्म के संकल्प मात्र से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। हमारी सृष्टि की तरह ब्रह्मा उत्पन्न नहीं हुए। उस ब्रह्म के संकल्प से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। इसलिए यह ब्रह्मविद्या कही जाती है। क्योंकि ब्रह्म के सम्बन्ध में इसमें भी कही जाती है कि जब ब्रह्म में कर्ता का

भाव आया तो वह ब्रह्मा हो गया। वही ब्रह्मा विश्वस्य कर्ता – सम्पूर्ण विश्व को बनाने वाला है।

ब्रह्मा को जो ज्ञान उस ब्रह्म से मिला, वही वैदिक ज्ञान है। हम वेदों को अपौरुषेय कहते हैं। अपौरुषेय उसे कहते हैं, जिसकी रचना किसी व्यक्ति ने नहीं की। जो अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। ऐसा अपौरुषेय ज्ञान ब्रह्मा के हृदय में स्फुरित हुआ। क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि संकल्प से हुई थी। उस ज्ञान को उन्होंने अपने पुत्र को बताया। उस ज्ञान का नाम ब्रह्मविद्या है। **ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यां प्रतिष्ठाम्** – क्यों इसको सर्वविद्या की प्रतिष्ठा कही गई? ब्रह्मविद्या ऐसा एक आधार है, जिस आधार पर संसार की सभी आज तक ज्ञात विद्याएँ, भविष्य में जो होंगी ऐसी अभिज्ञात विद्याएँ प्रतिष्ठित हैं। जैसे विश्व ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, सब आकाश के भीतर ही है। आकाश के बाहर हम किसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते। सब कुछ आकाश में है। उसी प्रकार संसार का जितना ज्ञान है, संसार का ज्ञान और परमार्थ का ज्ञान, वे सभी ज्ञान इस ब्रह्मविद्या में प्रतिष्ठित हैं। अगर यह ब्रह्मविद्या न रहे तो सब ज्ञान ढह जाएगा। पृथ्वी न रहे तो पृथ्वी पर रहने वाली सारी वस्तुएँ नष्ट हो जाएँगी। घर, मकान, जंगल, पहाड़ इन सबका आधार पृथ्वी है। उसी प्रकार संसार की जितनी विद्याएँ हैं, उन सबका आधार ब्रह्मविद्या है।

ऋषि इस ब्रह्मविद्या की परम्परा को बता रहे हैं। किस प्रकार से यह विद्या आयी? ब्रह्मा ने अथर्वा को बताया। अथर्वा ने अंगिरा को कहा – अथर्वणे ... परावराम् आदि। परम्परा से आया हुआ ज्ञान शुद्ध होता है। कैसे शुद्ध होता है? एक स्वर्णकार जो आज पहली बार सोने का काम सीख रहा है। दूसरा स्वर्णकार जिसके घर सौ पीढ़ी से काम हो रहा है। दोनों में कौन अधिक निपुण होगा? सौ पीढ़ी से जिसके घर काम हो रहा है, वही निपुण होगा। उसका काम परिपूर्ण होगा। परम्परा से आया हुआ ज्ञान बहुत दोषों से मुक्त रहता है। यह ब्रह्मविद्या गुरु-परम्परा से आई है। गुरु ने ब्रह्मा को बताया। ब्रह्मा ने वही ज्ञान अंगिरा को बताया। वही विशुद्ध ज्ञान शुद्ध-चित्तवृत्तियों द्वारा शुद्ध-चित्त शिष्य ने अपने जीवन में अनुभव किया। उपनिषद् के मन्त्रों के दो प्रकार, दो अर्थ हैं। पहला शब्द-ज्ञान और दूसरा अर्थज्ञान। शब्द-ज्ञान तो हम सभी लोग जानते हैं। जो लोग थोड़ी संस्कृत जान लें, वे इसको आराम से पढ़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त सभी भाषाओं में अनुवाद भी उपलब्ध हैं। हमने उपनिषद् के शब्दार्थ को जान लिया। क्या उस शब्दार्थ से जीवन में कोई परिवर्तन आया? शब्दार्थ से जीवन में परिवर्तन नहीं आता है। जीवन में परिवर्तन तब आता है जब अर्थ का ज्ञान होकर अनुभव हो। अर्थ के ज्ञान का तात्पर्य है – हम जीवन में आचरण करें। तब जीवन में परिवर्तन आता है। पाँच बरस का बच्चा, चार बरस का बच्चा, उसके पास पाँच रूपये, सौ रूपये का नोट शब्द-ज्ञान है। उसने स्कूल में एक, दो, तीन, चार ... सौ तक गिनती सीख ली है। पर वह उसका अर्थ नहीं जानता है। वह नहीं जानता है कि पाँच रूपये और सौ रूपये के नोट में क्या अन्तर है? आप और हम उसका अर्थ जानते हैं। अर्थ के अनुसार हम उसका उपयोग करते हैं। हमारे जीवन में उपनिषदों या धार्मिक ग्रन्थों का शब्द ज्ञान तो रहता है, पर अर्थ ज्ञान नहीं आ पाता। उपनिषद् की परम्परा के अनुसार अर्थ ज्ञान बिना गुरु के नही आ सकता है। क्योकि अनुभूतिसम्पन्न गुरु ने उन अर्थो को अपने जीवन मे उतारा है। जीवन मे उतारने के बाद तब हमें उसका अर्थ बताते हैं। शब्द-ज्ञान तो हमने भी पढ़ लिया है। व्याकरण में पारंगत होकर शायद गुरु से अधिक जान जाएँ। गुरु उतनी व्याकरण भले ही न जानते हों, पर उन्होंने उसके अर्थ को जान लिया है। अर्थ को जानने के बाद श्रीरामकृष्ण, परमहंस हुए। उन्होंने तो कोई व्याकरण नही पढ़ा था। कोई विद्या नहीं पढ़ी थी। पर बड़े बड़े पंडित उनके पास आते थे और शास्त्र की बात शब्द-ज्ञान बताते थे। तब श्रीरामकृष्ण कहते थे, नहीं ये व्याख्या ठीक नहीं है। इसका सही अर्थ यह है। इसे सुनकर पंडितगण आश्चर्य में पड़ जाते थे। यह वे अपने अनुभव से कहते थे। यह ज्ञान ऐसी परम्परा से आया हुआ है।

अब इस उपनिषद् का प्रारम्भ करें। जैसा कि परमानन्द जी ने बताया कि मुण्डक उपनिषद् में ६४ श्लोक हैं। इसके तीन खंड हैं। प्रत्येक खंड के दो अध्याय हैं। एक एक अध्याय को मुण्डक कहते हैं। प्रथम मुण्डक का तृतीय मन्त्र, इस उपनिषद् का एक तरह से प्रारम्भ है। आज के इस युग में विज्ञान की सारी चुनौती को उसने स्वीकार कर लिया है। जितने भी (माडर्न साइंस) आधुनिक विज्ञान हैं – फिजीक्स, केमेस्ट्री, मैथेमेटिक्स सभी युनीफाइड थ्यूरी की ओर जा रहे हैं। सभी वैज्ञानिक इस प्रयत्न में लगे हैं कि क्या ऐसा कोई एक तत्त्व है जिसे जान लेने से सब कुछ समझ में आ जाय? फिजिक्स कहाँ से निकला? केमेस्ट्री कहाँ से निकली? गणित का अंतिम लक्ष्य क्या है आदि ? क्या विज्ञान का ऐसा कोई आधार है जिसे जान लेने से सब कुछ जाना जाय? अभी हम सोचने का प्रयत्न कर रहे हैं। हजारो साल पहले ये जो विद्या बतायी गयी थी। इसमें विश्व को चुनौति है और विश्व को उस चुनौति का उत्तर भी दिया गया है। बड़ी-से-बड़ी जितनी भी विद्याएँ, हम तो खैर मूर्ख आदमी हैं, पर जो बड़े बड़े विद्वान है, उनसे पूछकर देख लीजिए। उनकी सारी विद्याओं का यही सार मिलेगा।

एक बहुत बड़े महा गृहस्थ थे। उनका नाम शौनक था। वे पूछते हैं –

शौनकौ ह वै महाशालः
अङ्गिरसं विधिवत् उपसन्नः पप्रच्छ।

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते
सर्वमिदं विज्ञातं भवति इति ।। (मुं. १/१/३)

शौनक नाम के एक गृहस्थ थे महाशाल। महाशाल – जो बहुत सी यज्ञशालाएँ चलाया करते थे या विद्यार्थियों को रखते थे, गुरुकुल, बड़ी बड़ी शालाएँ। आज की भाषा में किसी बहुत बड़ी शाला विश्वविद्यालय (युनिवर्सिटी) के वाइस-चांसलर (कुलपति) थे। नैमिषारण्य में शौनक ऋषि के इस शाला में अस्सी हजार विद्यार्थी थे। वे फीस देने वाले विद्यार्थी नहीं थे। उन सबका लालन-पालन शौनक ही करते थे। शौनक स्वयं बहुत बड़े विद्वान् थे और गृहस्थ थे। उन्होंने ये सारी विद्याएँ जिन्हें हम सांसारिक विद्या कहते हैं, उन सबको पढ़ी। वे एक विचारशील एवं सम्पन्न व्यक्ति थे। अध्ययन के बाद संसार का सब सुख भी भोगा। उनका जीवन अभावपूर्ण नहीं था। 'किसी तरह जी रहा हूँ' इस तरह जीवन बीताने वाले शौनक नहीं थे। उन्होंने जीवन में बहुत कुछ किया था। ऐसे पूर्ण संतुष्ट सांसारिक दृष्टि से उन्होंने संसार के भोगों को भोग लिया और समझ गए कि इसकी इतनी सीमा है। अध्ययन और पांडित्य के द्वारा उन्होंने यह समझ लिया कि इसकी इतनी सीमा है। तब बात समझ में आयी कि आज तक ज्ञान की जितनी शाखाओं को मैंने पढ़ा है, उससे हजारों, लाखों गुणा शाखाएँ बची हुई हैं, जिसे हमें जानना या पढ़ना है। शौनक को यह बात समझ में आ गई कि यह असम्भव है। ज्ञान की अनन्त शाखाएँ हैं। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है। अनन्त जन्म लेता रहे तो भी नहीं समाप्त होगा। आज वैज्ञानिक यही बताते हैं। रोज हम देखते भी हैं। शौनक को जब यह बात समझ में आ गयी। उन्होंने कहीं सुना था। लोगों से सब चर्चा किया करते थे, सत्संग करते थे। उन्होंने सुना होगा कि ऐसा कुछ है जिस एक को जान लेने पर सब कुछ जानना जा सकता है। वे जाकर एक ऋषि अंगिरा से पूछ रहे हैं, जिनको परम्परा से यह ज्ञान मिला है। अंगिरा को यह ज्ञान आदि परम्परा से मिला था। उन्होंने जीवन में अनुभव किया था कि सत्य क्या है? शौनक अंगिरा ऋषि के पास जाकर पूछते हैं – **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति इति** – हे प्रभु ! किसको जान लेने पर मन और इन्द्रियगम्य सभी विषयों को जाना जा सकता है? पहले यह प्रश्न विचित्र सा लगता है। पर गहराई से सोचें, उपनिषद् सोचने वाली बात है। इसलिए कि आज न कल जिस जीवन में हम शान्ति पाएँगे, हमें विचार अवश्य करना पड़ेगा। हमारा सत् असत् का विचार जागृत होगा। विवेक जागृत होने पर ही मनुष्य सदा नित्य-अनित्य का विचार करता है और तब संतुष्ट होता है। अरे छोड़ो क्या रखा है इसमें? छोटे बच्चे अपने खिलौने को सप्राण, जीवित समझते हैं और उसको चिपकाए रखते हैं। बड़े होते हैं तो देखते हैं, यह गुड्डा है, यह पुतली है, इसको छोड़ो। उसी प्रकार हम इससे चिपके हुए हैं। यह जो कुछ हमको दिखता है, वस्तुतः वह क्या है? कैसे उसको हम जान सकते हैं? ऋषि जी उत्तर देते हैं। पहली बार जब हम पढ़ते-सुनते हैं तो लगता है कि अरे यह सब क्या है! बड़ा गोलमाल है! कोई मुझसे पूछे, तुम्हारा नाम क्या है? तो नाम बताने के पहले मैं उनको बताऊँ कि देखो भाई, भारत में प्राचीन ऋषियों ने संन्यास की एक परम्परा बनाई है। मनुष्य जीवन की परम्परा को उन्होंने चार वर्णों – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चार आश्रमों – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में बाँटा है। कैसी इनकी सारी व्यवस्था है! जैसे कोई अँग्रेज, विदेशी आया हो। उसको अगर बताऊँ सत्यरूपानन्द को उसकी समझ में क्या आएगा? वह तो समझेगा जैसे अरुण चूड़ीवाल वैसे ही सत्यरूपानन्द। उसको यह अन्तर समझ में नहीं आ सकता। तब उसको हमें सब बताना पड़ेगा कि मेरा नाम पहले ऐसा नहीं था, गेरुआ कपड़ा नहीं था। तो कैसे हुए? जब तक वह परम्परा न जाने वह समझ नहीं सकता कि क्यों गुरु इस प्रकार इनका नाम रखते हैं? क्यों भारत के लोग मुंडित होकर संन्यासी हो जाते हैं? संन्यासी की परम्परा समझ में आये तब तो? अंगिरा ऋषि ने समझ लिया कि ये तो बहुत विद्वान् हैं, पढ़े-लिखे हैं। पर इनको पूरी बात बतानी पड़ेगी। उत्तर विचित्र सा लगता है। उन्होंने पूछा किसको जान लेने पर? वे उत्तर देते हैं – **तस्मै स ह उवाच** – अंगिरा ऋषि ने शौनक से कहा – **द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदः वदन्ति परा च एव अपरा च** (मुंडक -१/१/४)। वे स्वयं इतने बड़े महर्षि, परम सिद्ध थे। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि 'अहं वदामि' – 'मैं बोल रहा हूँ'। उन्होंने कहा, देखो भाई शौनक, तुम और हम समान हैं। हमारे पूर्वजों में जो ब्रह्मविद् थे, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया था, ऐसे सत्यद्रष्टा ऋषियों ने जो कहा है, वही बात मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

द्वे विद्ये वेदितव्ये – दो विद्याएँ जाननी चाहिए। **विद्यते अनेन इति विद्या** – जिसके द्वारा जाना जाय उसका नाम विद्या है। कौन सी दो विद्याएँ हैं? **परा-अपरा च** – देखो भाई शौनक, दो प्रकार की विद्याएँ जाननी चाहिए। एक है अपरा विद्या और दूसरी है परा विद्या। हिन्दू धर्म का ही यह साहस है, जो विश्व के किसी धर्म में नहीं है। मैं बड़ी नम्रता, पर दृढ़ता से कहता हूँ। मैंने विद्वानों से पूछकर जाना। संसार में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है, जो यह कह सके कि हमको (धर्मग्रन्थ) को छोड़कर तुम ईश्वर की प्राप्ति कर सकते हो। वेदान्त डंके की चोट से कहता है – केवल पुस्तकों के द्वारा, वह चाहे वेद ही क्यों न हो, कभी भी ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकते, कभी भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। यह महान् साहस केवल हम हिन्दुओं में है। हमारे वेदान्तियों में है। तब ऋषि कहते हैं – अपरा विद्या संसारी विद्या है जिससे ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती है। तब वह कौन सी विद्या है जिससे ईश्वर की प्राप्ति होगी?

तब महर्षि कहते हैं – **तत्र परा ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः शिक्षा कल्पः व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति** (मुण्डक – १/१/५)। शौनक यह सुनकर अवाक हो गए होंगे कि ऋषि कहते हैं कि ऋग्वेद अपरा विद्या है, इससे उस परा की प्राप्ति नहीं हो सकती, सामवेद, अथर्ववेद ये सारे वेद अपरा विद्या हैं। वेदों को पढ़ने के लिए जो वेदांग व्याकरण आदि पढ़ने पड़ते हैं, वह अपरा विद्या है। और तब ऋषि कहते हैं – **अथ परा यया तत् अक्षरं अधिगम्यते** (मुंडक – १/१/५) वह परा क्या है, जिसके द्वारा उस अक्षर की प्राप्ति होती है? असल में, प्राप्ति नहीं, प्राप्त तो कोई चीज होती है। यह पुष्पमाला आपने मेरे हृदय में बैठे हुए परमात्मा को अर्पित की तो वह पुष्पमाला मैंने प्राप्त कर ली। यह बाहर से आयी। यह ज्ञान ऐसा नहीं है। हमें केवल बिसरे हुए का स्मरण करना है। अधिगम्य – जान लेता है, अनुभव कर लेता है। किसके द्वारा जान लेता है? परा विद्या के द्वारा जान लेता है।

अब आप सोचकर देखें। कितनी वैज्ञानिक बात है! कितनी बड़ी हस्ती, कैसे महापुरुष थे ये लोग! जिन्होंने इस बात की घोषणा की है कि वेदों को पढ़कर तुम उस शब्द के पंडित हो गए हो तो क्या सोचते हो कि तुम अपनी कामना, वासनाओं को जीत लोगे? क्या तुम सोचते हो कि अपमान की ज्वाला से जलते हुए हृदय को ये रटे हुए श्लोक शान्ति देंगे? कभी नहीं। तुम सोचते हो कि काम-क्रोध की अग्नि में तुम्हारा व्यक्तित्व जलता रहेगा तो वेद की ऋचाओं का पाठ तुमको सुधार देगा? नहीं। क्या तुमने अनुष्ठान के द्वारा सत्य का अनुभव किया है? इसी वेद में, इसी उपनिषद् में यह घोषणा की गई है – यह स्वर्ग, नरक, यज्ञ आदि जो तुम करते हो, यह ठीक बात है। पर याद रखना। यह ऐसी कमजोर नाव है जो तुम्हें भवसागर से पार नही कर सकेगी, बल्कि बीच में डूबा देगी। –

प्लवा हि एते अदृढ़ा यज्ञरूपा
अष्टदशोक्तम् अवरं येषु कर्म।
एतत् श्रेयो ये अभिनन्दन्ति मूढ़ा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ।। (मु. १/२/७)

ऐसा इस मन्त्र में कहा गया है। शौनक को जब यह बात बतायी गयी तो बड़ी गम्भीरता से वे सोचने लगे कि यह क्या बात है? क्या वेद के द्वारा भी यह प्राप्त नहीं किया जा सकता है? यहाँ हमें थोड़ा विचार करके देखना चाहिए कि जब इनसे सत्य की प्राप्ति नहीं होगी, तो फिर इन शास्त्रों को क्यों पढ़ें? यदि ब्रह्मविद्या वेद के बाहर है, तब जो वेद के बाहर है, उसे स्वीकार नही किया जा सकता। ऋषि उसका उत्तर देते हैं –

ऐसी बात नही है। जहाँ ये कहते हैं तुमने व्याकरण आदि पढ़कर, वेद की ऋचाओं को, वेद के मन्त्रों को तो समझ लिया, उसका अर्थ भी समझ लिया, पर उसमें जो अनुष्ठान बताया गया है, उसका पालन कर क्या तुमने सत्य का साक्षात्कार किया है? जैसे तैरने के संबंध में किसी ने मुझे एक पुस्तक दी। मैंने उस पुस्तक को कंठस्थ कर लिया। सब समझ लिया। किन्तु, पानी में उतरकर कभी तैरने का अभ्यास नहीं किया। पढ़ने के बाद सोचा कि अब तो हम तैरने में पारंगत हो गए। बेलूड़ मठ लौटे और हमने गंगा में छलांग लगा दी। गंगा पार हों-न-हों, पर भवसागर से पार तो जरूर हो जाएँगे। अरे भाई, तैरने की पुस्तक तैरना नहीं सीखा सकती है। उसके लिए तो तैरनेवाले किसी मल्लाह के पास जाकर सीखना होगा, जो पुस्तक का एक अक्षर भी नहीं जानता है, पर तैरने में निपुण है। वह कहेगा, आइये महाराज, इस घुटने भर पानी में मैं आपको सीखाता हूँ। जब आप तैरना सीख जाइएगा, तब गंगा में तैरने के लिए जाइएगा। वेद, पुराण, शास्त्र आदि संकेत देते हैं, ये ज्ञान नहीं दे सकते हैं। ये संकेत देते हैं कि क्या नित्य और क्या अनित्य है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य और स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई थे स्वामी तुरीयानन्द जी महाराज। कलकत्ते में बड़े उच्च ब्राह्मणकुल में उनका जन्म हुआ था। बचपन से ही उनके शुभ संस्कार थे। किशोर अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। दिन-रात वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़ते रहते। वे श्रीरामकृष्णदेव के सम्पर्क में आए। कुछ दिन आते जाते रहे। ठाकुर ने देखा, अरे, हरि जो आता था, वह आजकल आता नहीं। लोगों ने कहा कि महाराज, वह आजकल वेदान्त पढ़ता है और कहता है कि मैं समय नष्ट नहीं करना चाहता हूँ। ठाकुर ने कहा, अच्छा, उसे एक दिन बुलाओ। हरि आया। तब ठाकुर ने उससे कहा – क्यों रे हरि! वेदान्त पढ़ता है? हरि ने कहा, हाँ महाराज, मैं वेदान्त पढ़ता हूँ। इसीलिए मैं समय नष्ट नहीं करना चाहता, कहीं आता जाता नहीं हूँ। तथा जो वेदान्त के ग्रन्थ पढ़ते थे उनका नाम बता दिया। ठाकुर ने कहा, अच्छा ठीक है। तेरे वेदान्त में क्या है? फिर खुद ही उत्तर देते हैं – यही न कि ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या। हरि महाराज सोचने लगे, ये बूढ़े बाबा जो कहते हैं, ठीक यही बात तो है जिसे मैंने हजारों पृष्ठों में पढ़ा है। घूम फिरकर उतनी ही बात तो है। शंकराचार्य ने भी तो कहा है –

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यत् उक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवः ब्रह्म एव न अपरः ।।

– वे कहते हैं कि करोड़ों ग्रन्थों में जो बात कही गई है, मैं उसे आधे श्लोक में बताता हूँ। वह क्या है? – ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवः ब्रह्म एव न अपरः। इतना ही तो ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या। हरि महाराज सोचकर बोलते है, हाँ ठाकुर, इतना ही तो है। तब ठाकुर कहते हैं, अब जो मिथ्या है, उसे

छोड़कर जो सत्य है उसे पाने के प्रयत्न में क्यों नहीं लग जाता? मिथ्या में ही क्यों पड़ा है? तब हरि की आँख खुली। अरे इसको पढ़ के क्या होने वाला है? तब भगवान श्रीरामकृष्ण देव की शरण में आए। उन्होंने साधना सीखायी और मार्गदर्शन किया और हरि ऋषि हो गए। तात्पर्य यह है कि यहाँ वेदों की निन्दा नहीं है। उसका यथार्थ हमें बताया जा रहा है कि वेद को पुस्तक के रूप में, शब्दराशि के रूप में ग्रहण करके अनुभवसम्पन्न गुरु के बिना तुम सोचोगे कि हम कुछ कर लेंगे तो कुछ होने वाला नहीं है। बहुत से ऐसे लोग हैं। बहुत-से ऐसे ब्राह्मणों को मैंने देखा है, जो यज्ञादि कराते हैं, वेद उन्हें कंठस्थ हैं। उन्हें सैकड़ों-हजारों श्लोक कंठस्थ हैं, पर वे उसका अर्थ नही जानते हैं। वे कहते हैं, महाराज हम नहीं बता सकते हैं कि इनका क्या अर्थ है? इस प्रकार उस वैदिक अनुष्ठान से थोड़ा बहुत पुण्य, स्वर्ग आदि की प्राप्ति भले ही हो जाय। लेकिन अक्षर की प्राप्ति परा विद्या से ही होगी। क्षर कहते हैं – जिसका हमेशा क्षरण हो रहा हो, जो कम हो रहा हो, धीरे धीरे नष्ट हो रहा हो। न क्षरन्ति इति अक्षर: – जिसका क्षरण नहीं होता। वह जैसा था, वैसा ही है, वैसे ही रहेगा, कूटस्थ, शाश्वत, अनादि, अनन्त। ऐसा जो अक्षर है, वह ब्रह्म है।
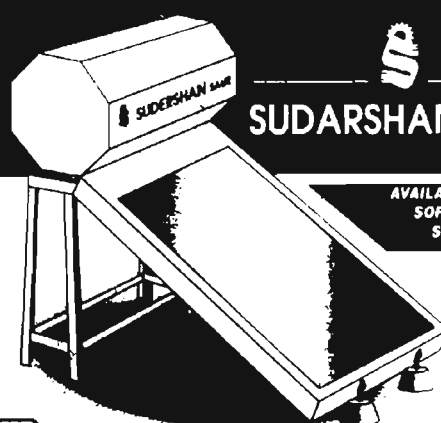
अब दूसरी हमारी ऋषियों की विशेषता देखिए। उन्होंने एक जटिल और कठिन ज्ञान को आपके हमारे लिए सरल बनाने का प्रयत्न किया। किसी भी चीज को जानने के लिए हम उसके विपक्ष को देखते हैं, तब उसे सहजता से जान लेते है। जैसे अन्धेरा है, तो उजाले का महत्व हमको अधिक पता लग जाता है। धनी को दरिद्र को देखकर धन के महत्व का पता चलता है। कोई स्वस्थ है तो रोगी को देखकर स्वास्थ के महत्व का पता चलता है कि स्वस्थ होना कितना अच्छा है। तर्कशास्त्र में इसको नकारात्मक-सकारात्मक दृष्टि कहते हैं। जो अक्षर तत्त्व है, जिस अक्षर तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं, जो जगत का अन्तिम सत्य है, जिस पर सम्पूर्ण जगत आधारित है, मुंडक उपनिषद में इस पर विचार किया गया है। वह कैसा है? – **तद् अदृश्यं अग्राह्यम् अगोत्रं अवर्णं अचक्षु:श्रोत्रं तद् अपाणिपादं** (मुण्डक -१/१/६)। यह उस मन्त्र की अर्धाली, आधा है। यह मुण्डक का छठवाँ मन्त्र है। इसकी थोड़ी-सी चर्चा करके आज चर्चा यहीं समाप्त करें, कल इस पर विस्तार से चर्चा होगी। तत् माने वह, यहाँ ब्रह्म के लिए नपुंसक लिंग का व्यवहार करते हैं, क्योंकि वह न पुरुष है न स्त्री। वह तत्त्व है, सत्य है, जिसको हम ब्रह्म कहते हैं। वह अदृश्यम् – देखा नहीं जा सकता, किसी भी प्रकार उसे देखा नहीं जा सकता। ऐसा नहीं कि अभी जैसे सामने दीवार है, हम उस पार नहीं देख पा रहे हैं, दीवार हट जाय तो उस पार देख सकेंगे, किन्तु ब्रह्म ऐसा नहीं है। ब्रह्म किसी भी माध्यम से इन्द्रियों से देखा नही जा सकता है। अग्राह्यम् – पकड़ में नहीं आ सकता, उसे ग्रहण नहीं कर सकते। अगोत्रं – गोत्रं पहचान को कहते हैं, उसका कोई गोत्र नहीं है। अवर्णम् – उसका कोई [illegible] है। अचक्षु:श्रोत्रं – आँखें नहीं हैं, कान नहीं हैं। अपाणिपादम् – हाथ-पैर भी नहीं है। 'यह नहीं है, यह नहीं है'। अच्छा, यह सब नहीं है; तो क्या है? तब कहते हैं – **नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद् अव्ययं तद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीरा:** (मुण्डक -१/१/६)। – यद् नित्यं – जो हमेशा रहने वाला है। विभुं – सर्वव्यापी है। सर्वगतं – सबमें प्रविष्ट किया हुआ है। सूक्ष्मम् – अति सूक्षम है। तद् अव्ययम् – घटता-बढ़ता नहीं है। तद् भूतयोनिम् – जो सभी प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है। परिपश्यन्ति धीरा: – धीर पुरुष उसका दर्शन करते हैं। यह अदृश्य तत्त्व कैसा है, अगर इसे बुद्धि से भी समझ लें, तो जीवन में बहुत बड़ा आधार मिल जाएगा। हम जीवन में सफलतापूर्वक संघर्ष कर सकते हैं। बाहर और भीतर दोनों स्थानों में जब हमें सत्य का आधार प्राप्त हो जाता है, तो जीवन में बहुत से तनावों से सद्य: मुक्ति मिल जाती है। अभी मुक्ति हो जाएगी। इस पर चर्चा आगामी कल होगी।

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बाते समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थें। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे है। – सं.)

५. एक कौपीन के वास्ते

एक साधु ने अपने गुरुदेव से उपदेश लिया और साधन-भजन करने की इच्छा से किसी गाँव के पास स्थित निर्जन मैदान में एक कुटिया बनाकर उसमें निवास करने लगे। वे प्रतिदिन सुबह उठते और स्नान करने के बाद अपना गीला वस्त्र और कौपीन सूखाने के लिए झोपड़ी के पास के एक पेड़ की डाली पर फैला देते। एक दिन जब वे भिक्षा के लिए बाहर निकलते, उसी दौरान एक चूहे ने आकर उनका कौपीन कुतर डाला। साधु अगले दिन गाँव में जाकर एक नया कौपीन माँग लाये। उसके बाद से नहाने के बाद वे अपना गीला कौपीन झोपड़ी के ऊपर डालकर भिक्षाटन के लिए जाने लगे। इससे कुछ दिन तो ठीक चला, परन्तु कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। एक दिन भिक्षा से लौटकर उन्होंने देखा कि चूहे ने फिर उनके कौपीन का सत्यानाश कर डाला है। इससे परेशान होकर वे सोचने लगे कि "बार-बार किससे कौपीन माँगूँ !' अगले दिन जाकर जब उन्होंने गाँववालों से चूहे की कथा सुनाई, तो वे लोग बोले, "हर रोज कौन आपको नया-नया कौपीन देगा? आप एक काम कर सकते हैं – झोपड़ी में एक बिल्ली पालिए, फिर उसके डर से चूहा पास नहीं फटकेगा।"

साधु को बात जँच गई। वे उसी दिन गाँव से एक छोटी-सी बिल्ली लेते आये। बिल्ली के आते ही चूहे की शैतानी बन्द हो गई। साधु को बड़ा सन्तोष हुआ। अब वे बड़े स्नेह-यत्न के साथ बिल्ली को पालने लगे। उसके आहार के लिए वे गाँव से थोड़ा-सा दूध मॉंगकर ले आते। कुछ दिनों बाद एक ग्रामवासी उनसे बोल पड़ा, "महात्मा जी, दो-चार दिन की बात तो ठीक है, परन्तु आपको तो हर रोज दूध चाहिए। बारहो महीने आपको दूध कौन देगा? देखिए, आप एक गाय पाल लीजिए। इससे आपको भी सात्त्विक आहार मिल जायेगा और बिल्ली के लिए भी भटकना न होगा।"

साधु एक दुधारू गाय भी ले आये। इससे उनकी दूध की समस्या तो मिट गई, पर अब उन्हें गाय के चारे के लिए गाँव में भिक्षा करने जाना पड़ता। एक दिन गाँव-वालों ने कहा, "अपनी झोपड़ी के पास की परती जमीन में हल चलवा लीजिए, तब आपको गाय के चारे के लिए गाँव में नहीं आना पड़ेगा और आपके लिए भी अनाज पैदा हो जायेगा।"

साधु ने कुटिया के आसपास की जमीन पर चारा उगाने के लिए खेती भी शुरू कर दी। इसके लिए उन्हें मजदूर आदि भी रखने पड़े। फिर फसल पकने पर उसे काटकर रखने के लिए कोठार आदि भी बने। धीरे-धीरे साधु भूल ही बैठे कि उन्होंने साधन-भजन के निमित्त वहाँ कुटिया बनाई है और वे सामान्य गृहस्थों की भाँति विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहने लगे।

कुछ दिनों के बाद उनकी खोज-खबर लेने उनके गुरुजी वहाँ आ पहुँचे। कुटिया के आसपास काफी समृद्धि के चिह्न देखकर उन्होंने एक नौकर से पूछा, "अच्छा, इस कुटिया में एक त्यागी साधु रहा करते थे, क्या तुम बता सकते हो कि वे कहाँ चले गये?" नौकर को कुछ भी ज्ञात न था। इस पर गुरु ने स्वयं ही कुटीर में प्रवेश किया और वहाँ अपने शिष्य को देखकर पूछा, "बेटा, यह सब क्या है?" शिष्य लज्जित होकर गुरुदेव के चरणों में गिर पड़ा और बोला, "यह सब केवल एक कौपीन के लिए हुआ है।" शिष्य ने गुरुदेव के समक्ष सारी घटना-क्रम का बयान किया। गुरुदेव के सान्निध्य से साधु की समस्त आसक्तियाँ तत्काल दूर हो गईं और वे सब कुछ त्यागकर गुरुदेव के साथ निकल पड़े।

६. गोपाल ! गोपाल !

एक सराफे की दुकान थी। देखने से वे सुनार परम भक्त प्रतीत होते – गले में माला, माथे में तिलक, हाथ में जप की थैली और मुख में सदा हरिनाम। ग्राहक वहाँ आकर देखते कि दूकानदार मुँह से भगवान का नाम ले रहे हैं और बैठे-बैठे अपना काम कर रहे हैं। लगता मानो सन्त-महात्मागण ही बैठे हों। क्या करें – पेट है, बाल-बच्चे हैं, उन्हें तो खिलाना पड़ेगा, इसीलिये सराफे का काम करना पड़ रहा है, अन्यथा ये क्यों इस जंजाल में पड़ते ! उस दुकान में खरीदारों की भीड़ लगी रहती, क्योंकि लोग जानते थे कि ये लोग परम भक्त हैं, अत: यहाँ सोने-चाँदी के मोल-तोल में कोई गड़बड़ी न होगी।

दुकान की ख्याति चारों ओर फैल गयी। दूर-दूर के गाँवों से लोग सोना-चाँदी खरीदने-बेचने वहीं आया करते। ज्योही ग्राहकों की कोई टोली दूकान में आती, एक दूकानदार जोरो से भगवान का नाम लेता हुआ कह उठता – "केशव ! केशव ! केशव ! थोड़े बाद दूसरा बोल उठता – "गोपाल ! गोपाल ! गोपाल ! उनके साथ बात थोड़ी आगे बढ़ी कि तीसरा कहता – "हरि ! हरि ! हरि !' सौदा जब लगभग पक्का होने को आ जाता, तो चौथा बोल उठता – "हर ! हर ! हर ! भगवान के प्रति इतना प्रेम ! इतनी भक्ति ! ग्राहक सुनारों को रुपये देकर निश्चिन्त हो जाते कि यहाँ वे कभी धोखा नही खायेंगे।

पर बात असल में क्या है जानते हो? ग्राहकों के आते ही जिसने कहा था "केशव, केशव!' वह असल में पूछ रहा है – "के-सब', "के-सब' – अर्थात् ये सब कौन हैं? जिसने कहा – "गोपाल, गोपाल', वह मानो उत्तर देते हुये कहता है – अरे ! ये तो "गो (गाय)-पाल (झुण्ड)' (गायों का झुण्ड) दिखते हैं। (अर्थात् बुद्धि के नाम से ये कोरे हैं।) जिसने "हरि हरि' कहा था, वह दूसरे की बात सुनकर मानो पूछता है कि जब ये लोग गाय के झुण्ड हैं, तो क्या इनको "हरि'? (हरण करूँ अर्थात् ठगूँ? इस पर चौथा कहता है – "हर, हर !" (हाँ, हाँ, सब कुछ हर लो !) ऐसे ही परम भक्त थे वे लोग !

संसार में ऐसे 'परम भक्तों' की कमी नहीं ! इनसे सदा बचकर चलना चाहिये। ऊपर से देखने में से 'परम भक्त' सहसा पहचान में नहीं आते, पर उनकी गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से वे पकड़ में आ जाते हैं। इस कथा का मर्म यह भी है कि जहाँ भक्ति और साधुता का दिखावा हो, वहाँ हमें पहले से ही सावधान हो जाना चाहिये।

७. फुफकारो, मगर काटो मत !

दुष्ट लोगों के बीच रहना पड़े, तो उनसे अपनी रक्षा करने हेतु कुछ तमोगुण भी दिखाना चाहिए; परन्तु कोई हमारा अनर्थ कर सकता है – ऐसा सोचकर उल्टे उसी का अनर्थ नहीं करना चाहिए।

एक जंगल में कुछ चरवाहे अपनी गायें चराया करते थे। वहाँ एक बहुत बड़ा विषधर सर्प रहता था। उसके डर से लोग उधर से गुजरते समय बड़ी सावधानी बरता करते थे। एक दिन उसी रास्ते से होकर एक ब्रह्मचारी जी चले आ रहे थे। चरवाहे दौड़ते हुए उनके पास गये और कहने लगे – "महाराज, इस रास्ते से मत जाइए; उधर एक साँप रहता है, बड़ा विषधर है।" ब्रह्मचारी जी बोले – "तो क्या हुआ, बेटा, मुझे कोई डर नहीं, मैं मंत्र जानता हूँ।" यह कहकर ब्रह्मचारी जी उसी ओर चले गए। डर के मारे चरवाहे उनके साथ न गए। इधर साँप फन उठाये उनकी ओर झपटता चला आ रहा था, परन्तु पास पहुँचने के पहले ही ब्रह्मचारी जी ने मंत्र पढ़ा। साँप आकर उनके पैरों पर लोटने लगा। ब्रह्मचारी जी ने कहा – "तू इतनी हिंसा क्यों करता है? ले, मै तुझे मंत्र देता हूँ। इस मंत्र को जपेगा तो तेरी ईश्वर पर भक्ति होगी और तुझे ईश्वर के दर्शन होंगे; फिर यह हिसा-वृत्ति न रह जाएगी।" यह कहकर ब्रह्मचारी जी ने साँप को मंत्र दिया। मंत्र पाकर साँप ने गुरु को प्रणाम किया और पूछा – "प्रभो, मैं क्या साधना करूँ?" गुरु ने कहा – "इस मंत्र को जप और हिंसा छोड़ दे।" चलते समय ब्रह्मचारी जी फिर आने का वचन दे गए।

इस प्रकार कुछ दिन बीत गए। चरवाहों ने देखा कि साँप अब काटता नहीं, ढेला मारने पर भी क्रोधित नही होता, केंचुए की तरह हो गया है। एक दिन चरवाहों ने उसके पास जाकर पूँछ पकड़कर उसे खूब घुमाया और वहीं पटक दिया। साँप के मुँह से खून बहने लगा, वह बेहोश पड़ा रहा; हिल-डुल तक न सकता था। चरवाहों ने सोचा कि साँप मर चुका है और यह सोचकर वे लोग वहाँ से चले गए।

काफी रात बीच जाने के बाद साँप को होश आया और वह किसी तरह धीरे-धीरे घिसटते हुए अपने बिल के भीतर गया। उसकी देह चूर-चूर हो गयी थी, हिलने तक की शक्ति न रह गयी थी। बहुत दिनों के बाद जब चोट का असर कुछ कम हुआ, तब भोजन की खोज में बाहर निकला। परन्तु अब से वह केवल रात को ही बाहर निकलता था। हिंसा तो उससे छूट ही चुकी थी, बस फल-फूल खाकर ही गुजारा कर लेता।

साल भर बाद ब्रह्मचारी फिर आए। आते ही वे साँप की खोज करने लगे। चरवाहे बोले, 'वह तो कब का मर चुका', पर ब्रह्मचारी जी को विश्वास नहीं हुआ। वे जानते थे कि जो मंत्र वे दे गए हैं, उसके सिद्ध हुए बिना साँप की देह छूट नहीं सकती। ढूँढ़ते हुए वे उसी ओर गये और अपने दिए हुए नाम से साँप को पुकारने लगे। गुरुदेव की आवाज सुनकर साँप बिल से बाहर निकल आया और उन्हें खूब भक्तिभाव से प्रणाम किया। ब्रह्मचारी जी ने पूछा, "क्यों, कैसा है?" उसने कहा, "जी, अच्छा हूँ।' ब्रह्मचारी जी – "तू इतना दुबला कैसे हो गया?" साँप बोला – "महाराज, जब से आप आज्ञा दे गए, तब से मैं हिंसा नहीं करता; फल-फूल, घास-पात खाकर ही पेट भर लेता हूँ; शायद इसीलिए दुबला हो गया हूँ।" सत्त्व गुण बढ़ जाने के कारण वह किसी पर वह क्रोध न कर सकता था। इसी से मार की बात भी वह भूल चुका था। ब्रह्मचारी जी ने कहा, "सिर्फ न खाने ही से किसी की ऐसी दशा नहीं होती, कोई दूसरा कारण भी जरूर होगा, तू अच्छी तरह सोच तो।" साँप को चरवाहों की मार याद आ गयी। उसने कहा – "हाँ महाराज, अब याद आयी, एक दिन चरवाहों ने मुझे पटक-पटककर मारा था। उन अज्ञानियों को तो मेरे मन की अवस्था मालूम न थी। वे भला क्या जानें कि मैंने हिंसा करना छोड़ दिया है !" ब्रह्मचारी जी बोले – "राम राम, तू ऐसा मूर्ख है? अपनी रक्षा करना भी तू नहीं जानता? मैंने तुझे काटने से ही तो मना किया था, पर फुफकारने से तुझे कब रोका था? फुफकार मारकर उन्हें भय क्यों नहीं दिखाया?"

इस तरह दुष्टों से सामना होने पर फुफकारना चाहिए, भय दिखाना चाहिए, ताकि वे अनिष्ट न कर बैठें; पर विष नहीं डालना चाहिए, उनका अनिष्ट न करना चाहिए। ❖**(क्रमशः)**❖

माँ के समीप (पूर्वार्ध)

स्वामी सारदेशानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी पावन-मधुर स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी है। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

जब मै पहली बार माँ के दर्शन करने उद्‌बोधन गया, उस समय माँ गाँव गयी हुई थीं, अत: उस बार मुझे माँ के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला। पूजनीया गोलाप-माँ उस समय वही थीं। उनका दर्शन तथा प्रणाम करने पर, जब उन्हें पता चला कि हम लोग इतनी दूर से कष्ट उठाकर आए हैं, तो उन्होंने खूब स्नेह और सहानुभूति प्रदर्शित किया और माँ का दर्शन नही हुआ – कहकर दु:ख प्रगट करने लगी। हम लोगों के यह कहने पर कि हम उनका दर्शन पाकर आनन्दित है, गोलाप-माँ हँसते हुए बोली, "मध्वभावे गुडं ददात्।" (– मधु के अभाव में गुड़ ही दे देना चाहिए।) उस समय मैं माँ के बारे में विशेष कुछ नही जानता था। बस इतना ही सुना था कि ठाकुर की सहधर्मिणी जीवित हैं और उद्‌बोधन में रहती हैं। भक्तगण उनका दर्शन करते है और किसी-किसी भक्त को उन्होंने दीक्षा भी दी है। पर उद्‌बोधन में ही गोलाप-माँ की बातों से समझा कि माँ कुछ भिन्न प्रकृति की हैं और उनका दर्शन परम सौभाग्य की बात है। बाद में पूजनीय शरत् महाराज को कहते सुना, "माँ और ठाकुर क्या भिन्न हैं?" इस युक्ति को सुनने के पश्चात् मेरे मन में माँ के दर्शन की आकांक्षा प्रबल हो गई।

इसके बाद माँ के दर्शन के लिए एक बार मैं गाड़ी करके हावड़ा स्टेशन तक गया, लेकिन जो मित्र गाड़ी हाँक रहे थे उनके अकस्मात गिर जाने से उनका एक हाथ टूट गया। तब उन्हें लेकर घर वापस लौट आना पड़ा। इसके लगभग दो वर्ष बाद मेरे मित्र स्वामी ज्ञानानन्द (जो उस समय नवासन ग्राम में थे) ने मुझे पत्र लिखा कि जयरामवाटी जाकर माँ का दर्शन और उनकी कृपा पाने की विशेष सुविधा है। इसी बीच मेरे दो विशेष शुभचिन्तक मित्रों ने माँ की कृपा प्राप्त की – एक ने उद्‌बोधन में और दूसरे ने जयरामवाटी में। उनके मुँह से मैने माँ की बातें सुनीं। एक दिन स्वप्न मे माँ का दर्शन हुआ। आकस्मिक रूप से माँ के तीन फोटो भी मिले। उन दिनों माँ का फोटो मिलना बड़ा कठिन था। पूर्वोक्त मित्र के साथ जिस दिन मैं पहली बार सुबह के समय जयरामबाटी पहुँचा, माँ उस दिन काली मामा के घर पर थीं। माँ के कमरे के दरवाजे पर अपना सामान रखकर, ठाकुर को प्रणाम करके, जब हम लोग काली मामा के घर के द्वार के सम्मुख आए, तो माँ उस समय काली मामा के घर से बाहर निकल रही थीं। हमें देखते ही वे दरवाजे के सामने रखे विशाल पत्थर के टुकड़े पर दोनों पैर नीचे लटकाये और गोद में दोनों हाथों को रखकर बैठ गईं। वे लाल किनारी की सफेद साड़ी पहने थीं। आधा चेहरा घूँघट से ढँका हुआ और दाहिना हिस्सा अनावृत था। थोड़े घुँघराले केश दाहिने कन्धे से नीचे झूल रहे थे। हाथों में कंगन, पाँवों के अंगूठों में लोहे की अंगूठियाँ, गले में खूब महीन रुद्राक्षों की माला, उन्नत शरीर। उस समय वे स्वस्थ और सबल थीं। प्रसन्न दृष्टि से मृदु हास्य के साथ वे हमारी ओर देखते हुए मेरे मित्र से बोलीं, "यह लड़का कौन है?" मित्र ने उत्तर दिया, "माँ, यह आपका ही लड़का है, मेरा मित्र है।" हम दोनों ने माँ को प्रणाम किया। माँ हम दोनों को स्नेहाशीष देकर हम लोगों को लिए घर चलीं। माँ का रूप देखा, उनकी बातें

सुनी – माँ, सचमुच ही माँ हैं। स्वप्न में देखी हुई माँ की मूर्ति याद आयी। मुझे बिल्कुल भी नहीं लगा कि मैं किसी अपरिचित-अनजानी जगह पर आया हूँ। क्षण भर में ही माँ ने अपना बना लिया। भय, चिन्ता, संकोच – सब मिटा दिया। प्रसाद पाते समय माँ ने अपने हाथों से खानी परोसकर खिलाया। बहुत-सी बातें हुईं। बातचीत के दौरान मेरे मित्र ने कहा – "इस (लेखक) से ही मैंने पहली बार ठाकुर की बातें सुनी थीं।" मैंने भी कहा, "और यही मुझे आपके पास ले आया है।" यह सुनकर माँ खूब आनन्दित होकर मेरे मित्र से बोलीं, "अच्छा ही हुआ, इसने तुम्हारा उपकार किया था और अब तुमने इसका उपकार किया।"

माँ की हथेलियाँ रक्तिम आभा लिए हुए थीं, बहुत-से लोगों को इसे देखने का सौभाग्य मिला है! पाँवों के तलवे भी ठीक कमल की भाँति लालिमा-युक्त थे। सिर में लम्बे घने काले केश थे – महीन रेशम की भाँति चमकीले। सामने की ओर थोड़े घुँघराले थे। सुगठित चेहरे पर उभरी हुई नासिका – अपूर्व सुन्दर लगती थी। कृपा से युक्त प्रशान्त-स्थिर दृष्टि, जो सभी के हृदय में सदा करुणा बरसाती रहती थी। चौड़ा उज्ज्वल ललाट, प्रसन्न मुखमण्डल, जिसे देखने मात्र से ही

चित्त शान्त हो जाता। रंग पहले अत्यन्त गोरा था। हाथ पैर भी अपेक्षाकृत लम्बे थे। बायीं तरफ थोड़ा झुककर धीरे-धीरे चला करतीं। बाद में घुटनों में वातरोग हो गया था।

संन्यासी तथा गृही – सभी सन्तानों पर माँ का समान रूप से स्नेह-प्रेम था। गृहस्थ-सन्तान भी जब माँ के पास आते, तो कभी उन्हें यह नहीं लगता कि उनके प्रति माँ का आचरण संन्यासियों की तुलना में अन्य प्रकार का है या उनके स्नेह-ममता में किसी प्रकार की कमी है। उनके सुख-दुख की संसार-यात्रा में माँ की सहानुभूति-संवेदना उनके दुख-कष्टों में कमी लाती और उनके आनन्द-उत्साह में वृद्धि करती। माँ सबके घर-परिवार, सगे-सम्बन्धी, नौकरी-चाकरी और सांसारिक अवस्था की खोज-खबर लेतीं। किसी भी समस्या का समाधान पूछने पर माँ अत्यन्त ध्यान से सब सुनकर ठीक-ठीक कर्तव्य बतातीं और उपदेश देतीं कि क्या करना चाहिए।

माँ की दृष्टि कितनी तीक्ष्ण थी, यह सोचकर अवाक् रह जाता हूँ। जयरामबाटी में विभिन्न स्थानों के भक्त आने पर माँ महाराजिन-मौसी को ठीक-ठीक बता देतीं कि कौन क्या खाएगा, कितना खाएगा, यहाँ तक कि रोटियों की गिनती तक बता देतीं। इसीलिए माँ के घर, माँ के पास खाना खाकर उनके सन्तान इतने तृप्त होते। ठाकुर की उक्ति, "माँ ठीक जानती हैं कि किस सन्तान के पेट में क्या सहेगा।"

जयरामबाटी में देखा कि सब पुरुष-भक्तों को खिलाने के बाद माँ निश्चिन्त होकर स्त्री-भक्तों के साथ भोजन को बैठतीं। किसी सन्तान के किसी कार्यवश सहसा बाहर चले जाने पर उसके लौटने में चाहे जितनी भी देर होती, माँ प्रतीक्षा करतीं; रास्ते की ओर देखती रहतीं, आगे बढ़कर खड़ी-खड़ी कहतीं – "बच्चे ने अब तक खाया नहीं, भूख से कष्ट पा रहा है।"

परन्तु उद्‌बोधन में बड़ी कठिन समस्या थी ! लड़कों को बिना-खिलाए माँ खाती ही न थीं। और गुरुगत प्राण निष्ठावान भक्त सारदानन्द इष्टदेवी के बिना खाए, भला कैसे खाएँगे? इसलिए यह व्यवस्था हुई कि एक ही समय माँ एक कमरे में महिला-भक्तों को लेकर भोजन करने बैठेंगी और शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) दूसरे कमरे में पुरुष-भक्तों के साथ बैठेंगे। माँ गाँव में बड़ी हुई थीं, अत: उनका देर से खाने का अभ्यास था। और शरत् महाराज को भी हाथ का कार्य समाप्त करते-करते देरी हो जाती। श्री ठाकुर का प्रसाद पहले माँ की थाली में परोसा जाता। माँ शीघ्रता से उसे मुँह में डालकर महाप्रसाद बना देतीं। गोलाप-माँ उसे लाकर महाराज को देतीं। भाग्यवान भक्त लोग भी उस प्रसाद से वंचित नहीं रहते।

जयरामबाटी में एक बार माँ के जन्मदिन पर भक्तों को इच्छा हुई कि माँ आज पहले खाएँगी और शिष्य-गण बाद में प्रसाद पाएँगे। उनमें एक व्यक्ति[१] का उत्साह थोड़ा अधिक था। उन्होंने आगे आकर माँ के सम्मुख अपनी इच्छा जतायी। आज माँ ने किसी प्रकार की आपत्ति न करते हुए अपनी मौन सहमति दी। ठाकुर को भोग के पश्चात् समस्त प्रसादी खाद्य-पदार्थों को थाली में सजाने के बाद आसन के सम्मुख रखकर जब माँ को बुलाया गया, तो वे धीरे-धीरे यंत्रचालित के समान आकर आसन पर बैठ गयी। उन्होंने करुणापूर्ण दृष्टि से पूरी सामग्री को देखा, सबमें से थोड़ा-थोड़ा उठाकर मुँह से लगाया। इसके बाद उनके सामने जो सन्तान खड़ा था, उसके मुँह की ओर देखकर बड़े कातर भाव से बोली, "बच्चों को खिलाए बिना गले के नीचे नहीं उतर रहा है, तुम लोग जल्दी से अपने खाने की व्यवस्था करो।" इतना कहकर हाथ-मुँह धोकर उठ गयीं और अपने कमरे में आकर दरवाजे के चौखट पर लड़कों को भोजन करते देखने बैठीं। पहले से ही सारी व्यवस्था हो चुकी थी, अत: क्षण भर में ही लड़के खाने बैठ गये। माँ के प्राण शीतल हुए। जिस मूर्ख-सन्तान ने अग्रणी होकर आज माँ को खाने के लिए राजी किया था और विशेष आनन्दित था, उसे क्षण भर में ही होश हुआ कि हाय, मैंने क्या कर डाला ! आज माँ का भोजन नष्ट कर दिया। प्रतिदिन की भाँति पुरुष-भक्तों को पहले खिलाकर बाद में महिला-भक्तों के साथ ही उन्हें खिलाना उचित होता। तभी वे निश्चिन्तता से खा पाती। हाय ! हम लोग तो ऐश्वर्य के दास हैं। इस मधुर लीला को भला हम कैसे समझेंगे? हम उन्हें देवी के रूप में सजाकर पूजा-भोग-राग की व्यवस्था करके अपने ऐश्वर्य-लीला का रसास्वादन करते हैं, लेकिन जिन्होंने समस्त ऐश्वर्य का आवरण भेदकर शुद्ध माधुर्यमय नरदेह धारण किया है, अपना स्नेहामृत पान कराने के लिए हम लोगों की माँ के रूप में आयी हैं, हम भला इस बात पर विश्वास या इसे समझ ही कहाँ पाते हैं?

सन्तानों की सुख-सुविधा की ओर माँ की तीक्ष्ण दृष्टि थी। लड़कों का सूखा चेहरा, दीन वेश, क्षीण शरीर माँ नहीं देख पाती थीं। भोजन के बाद सभी पान खाएँगे, इसलिए माँ स्वयं पान बनाकर रख देतीं। और जो लोग पान ज्यादा पसन्द करते, उन्हें ज्यादा पान मिलते। लड़कों को मुँह भरकर पान खाते देखकर माँ बहुत खुश होतीं। लड़कों का बिना किनारी की सादी धोती पहनना माँ को बिल्कुल पसन्द न था। भक्त लोग उन्हें महीन किनारीवाले अनेक धोतियाँ देते, लेकिन उनकी जरूरतें बहुत थोड़ी थीं। इसलिए माँ ये कपड़े बड़े आनन्दपूर्वक लड़कों में वितरण कर देतीं। माँ जानती थीं कि लड़को में कोई-कोई शौकीन हैं। उनको वे वैसा ही देतीं। किसी-किसी के वस्त्र जल्दी फटते थे, माँ उन्हें ज्यादा कपड़े देतीं। खाने-पीने आदि सभी मामलों में जो जैसा चाहता, जिसके पेट में जो सहता था, माँ उन्हें ठीक वैसा ही देती।

---
१. लेखक स्वयं

उद्‌बोधन में विभिन्न स्वभावों के संन्यासी-ब्रह्मचारी थे, पर सभी माँ की सन्तान थे, मातृस्नेह के समान अधिकारी थे। उन सभी के खाने-पीने, सुख-सुविधा के बारे में माँ विशेष रूप से चिन्ता करतीं। इसी प्रसंग में मुझे एक घटना याद आ रही है। उद्‌बोधन में डॉक्टर महाराज (स्वामी पूर्णानन्द) रात के खाने में किसी-किसी दिन ठीक समय पर नहीं आ पाते और इसके लिए उन्हें नरम-गरम बातें सुननी पड़तीं। एक दिन बहुत देर करने पर उन्हें डाँट-फटकार थोड़ी अधिक पड़ते देखकर माँ ने उन्हें आड़ में एक किनारे बुलाकर स्नेह से देर से आने का कारण पूछा। स्वामी पूर्णानन्द माँ का स्नेह पाकर रो पड़े और बोले, "राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), का आदेश है –'ठीक-ठीक गिनती का ध्यान रखकर रोज दस हजार जप करोगे और गल्ती होने पर फिर से एक से गिनते हुए जप करोगे। गिनती भूलने पर जप का फल राक्षस खा जाता है'।" राक्षस के खाने की बात सुनकर माँ हँसते हुए बोलीं, "बेटा! तुम लोग अभी लड़के हो, एकाग्र-चित्त होकर जप करने के लिए ही राखाल ने ऐसा कहा है। पर बेटा, मैं कह रही हूँ – खाने की घण्टी बजने पर तुम ठीक समय से आकर खाओगे। जप-संख्या पूरी न होने पर भी दोष नहीं लगेगा। बाद में फिर से सुविधानुसार जप कर लेना।" माँ का भरोसा पाकर सन्तान निर्भय हुए और खाने के लिए ठीक समय पर आने लगे।

प्रतिदिन सुबह पूजा करने के बाद माँ प्रसादी मिश्री का थोड़ा-सा शरबत पीतीं। सदा से यह उनकी दिनचर्या का अंग था। खराई से बचने के लिए यही उनका सुबह का मुख्य जलपान था। नाश्ते के समय वे थोड़ा-सा मुँह में डालकर सब सन्तानों को खिला देतीं। मुझे याद आती है जयरामबाटी की वह सुमधुर पुकार – "बेटा, समय हो गया है, आओ नाश्ता कर लो!" यह पुकार मानो अब भी कानों में गूँजती है और प्राण व्याकुल हो उठते हैं। इच्छा होती है कि पक्षी बन उड़कर वहाँ, उसी बरामदे में पहुँच जाऊँ, जहाँ आसन बिछाकर पानी का गिलास और कटोरे में गुड़-लाई, पत्तल में प्रसादी फल-मिठाई रखकर माँ दरवाजे की ओर स्नेह-भरी आँखों से व्यग्र होकर बछड़े की प्रतीक्षा में गाय की भाँति निहार रही हैं। लेकिन वह सौभाग्य दुबारा लौटकर आने से रहा। पूरी दुनिया में खोजने पर भी वह मातृस्नेह कहीं नहीं मिलेगा। लड़कों का नाश्ता हो जाने पर महिलाओं को नाश्ता देकर माँ स्वयं भी थोड़ा-सा ग्रहण करतीं। भक्तगण जो फल-मिठाई ले आते, वह तो दूसरों को ही मिलता, वे स्वयं तो थोड़ा-सा ही मुख में डालती। थोड़ा-से मुरमुरे से ही उनका जलपान होता। बाद में दाँत गिर जाने के बाद वे मुरमुरे नहीं चबा पातीं, इसलिए उसे आँचल में लेकर लोढ़े से कूट लेतीं और नवासन-बहू को बुलाकर कहतीं, "बहू, थोड़ा-सा नमक-मिर्च देना।" जयरामबाटी में माँ के घर खाने में साधारण मध्यवर्गीय परिवार के समान खाना बनता – सुबह मुरमुरे, दोपहर में मध्यम श्रेणी के चावल के भात, उड़द की दाल, पोस्ता, एक तीखी सब्जी, थोड़ी चटनी; और कभी-कभी शाक, रसेदार सब्जी या तली हुई सब्जी बनती। कभी-कभी कुछ अन्य चीजें भी रहती। जितने दिन माँ का शरीर स्वस्थ-सबल था, वे स्वयं ही खाना बनाकर परोसतीं। बाद में जब उनसे काम नही हो पाता था, तो भोजन के शुरू से लेकर अन्त तक बैठकर देखती रहतीं। देखतीं कि आसन, पत्तल, पानी आदि सब ठीक-ठाक, साफ-सुथरा है या नहीं। गिलास में पानी कम या ज्यादा तो नहीं भरा हुआ है। पत्तल आसन के ठीक बीचो-बीच रखा होना चाहिए। आसनों को बहुत पास-पास न लगाया गया हो और बहुत दूर-दूर भी नहीं, उनके बीच समान दूरी हो। परोसना आरम्भ हुआ, माँ की मधुर पुकार कानों में पड़ी, "समय हो चुका है बेटा, जल्दी आओ, पत्तल में भात पड़ चुका है, आओ खा लो।" लड़कों को आने में थोड़ी देर हो रही है। हाथ का काम खत्म किए बिना वे नहीं आ पा रहे हैं, माँ पत्तल के आगे बैठकर आँचल से मक्खियाँ उड़ा रही हैं। लड़के खा रहे हैं – माँ के चेहरे तथा आँखों से आनन्द मानो छलक रहा है! मधुर स्वर में पूछ रही हैं, "कैसा बना है?" किसी के पत्तल में भात नहीं है, किसी में दाल कम है, देखकर जिसकी जैसी रुचि है, तदनुसार माँ सबको भरपेट खिला रही हैं।

किसी नए भक्त-बालक के हृदय में आकांक्षा है कि माँ का प्रसाद मिले। माँ ने उसे समझा-बुझाकर पहले ही खिला दिया। बोलीं, "अभी बैठकर पेट भर कर खा ले, मेरे खाने में अभी देर है। मैं तेरे लिए प्रसाद रख दूँगी, बाद में तुझे मिल जाएगा!" दोपहर में माँ थोड़ा दूध-भात भी खा लेतीं। सभी सब्जियों में से थोड़ा-थोड़ा मुँह में डालने के बाद, एक कटोरी में दूध लेकर उसमें थोड़ा-सा भात सान लिया। उसमे से थोड़ा-सा अपने मुँह में डालने के बाद उन्होंने प्रसाद-प्रार्थी भक्त को बुलाया। आ जाने पर प्रसन्न होकर बोलीं, "बेटा, यह लो! प्रसाद माँग रहे थे न, बैठकर तृप्तिपूर्वक खाओ।" सन्तान के प्राण शीतल हुए, माँ को भी परम आनन्द हुआ। और ऐसा भी हुआ है कि किसी भक्त के मन में माँ का प्रसाद पाने के लिए बहुत आग्रह देखकर माँ ने हाथ में एक सन्देश (मिठाई) लिया और ठाकुर को उसका दृष्टिभोग देने के बाद अपने जिह्वाग्र से स्पर्श कराकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक सन्तान को देकर बोलीं, "बेटा, प्रसाद खाओ।"

माँ के जयरामबाटी के घर में रात को खाने में होता – रोटी-सब्जी, गुड़ और थोड़ा दूध। रोटियाँ बहुत अच्छी बनती। माँ स्वयं अपने हाथों से आटा सानती, खूब मुलायम होने तक गूँथती रहतीं। संध्या के बाद ठाकुर को भोग देने के बाद वे भोजन को अच्छी तरह ढँक कर अपने पास लिये बैठी रहती, ताकि ठण्डा न हो। लड़के थोड़ी रात होने पर खाएँगे, शाम को

ठाकुर का नाम लेंगे, उनका स्मरण करेंगे; और थोड़ी रात हुए बिना भूख नहीं लगती, इसलिए भरपेट नहीं खा सकेंगे, इसलिए माँ प्रतीक्षा कर रही हैं। दीपक टिमटिमा रहा है। ठाकुर को धूप देकर प्रणाम करके, दीपक को मद्धिम करके माँ पैर फैलाए बैठी रहतीं। उनका मन न-जाने कहाँ, किस राज्य में विचरण करता रहता, कौन जाने ! केवल निस्तब्धता !

मैं प्रतिदिन माँ की ठाकुर-पूजा के लिए फूल-बेलपत्तियाँ, आदि तोड़कर लाता। एक दिन मैं तुलसी की पत्तियाँ लाना भूल गया, इस पर माँ अत्यन्त दुखी होकर बोलीं, "तुलसी नहीं लाए ! तुलसी कितनी पवित्र हैं, जिसमें डालो उसी को शुद्ध करती हैं।" मैं संकुचित और दुखी होकर तत्काल तुलसी की पत्तियाँ ले आया और तभी से मै जीवन भर के लिए तुलसी का विशेष अनुरागी हो गया। प्रतिदिन पूजा समाप्त करने के बाद माँ भूमि पर सिर टिकाकर ठाकुर को प्रणाम करतीं। तत्पश्चात् चरणामृत पीते समय पूजा के निर्माल्य से एक प्रसादी तुलसी-पत्र और बिल्वपत्र का एक टुकड़ा मुँह में डालतीं।

एक भक्त-दम्पति माँ से मिलने जयरामबाटी आए हैं। साथ में छोटे-छोटे चार बच्चे हैं। उनमें से एक को मलेरिया बुखार है। यहाँ आकर देखा उन लोगों ने कि एक खूब छोटा फूस का घर है और वह भी लोगों से भरा हुआ। वे कहाँ रहेंगे, कहाँ बैठेंगे, कौन जाने ! पूछा – माँ कहाँ हैं? माँ को सूचना मिली। उन्हे भीतर बुलवाया। स्वयं आगे बढ़कर बड़े स्नेहपूर्वक बच्चों के साथ कन्या को अपने कमरे के बरामदे में ले आयीं। माँ के मुख से – "आओ बेटी" का आह्वान सुनकर पुत्री का विपन्न और दुखी भाव दूर हो गया; हृदय गद्‌गद हो उठा, मुख पर प्रफुल्लता छा गयी। माँ के स्नेह के जादू से क्षण भर में ही सारा दृश्य बदल गया। तत्काल बच्चों को सुलाने और उनके बैठने तथा विश्राम करने की व्यवस्था हो गयी। माँ ने अपने कमरे के दरवाजे के एक तरफ चटाई बिछा दी। केवल इतना ही नहीं, बच्चे के लिए दूध और दवा तक आ गयी। माँ के घर में पुत्रियो को क्या कोई अभाव रहता है? या कोई संकोच रहता है? कुछ देर बाद ही देखा गया कि माँ के घर की अन्य महिलाओं की सगी बहन के समान वे भी उनके साथ अपनी काँख में घड़ा दबाये, नहाने और पानी लाने बाँडूज्ये-तालाब की ओर चली जा रही हैं।

आज भक्त-दम्पति वापस लौट रहे हैं। माँ दरवाजे पर खड़ी, जितनी दूर तक दृष्टि जाती है, अश्रु-भरे नयनों के साथ एकटक निहार रही हैं। उन लोगों के आँखों से ओझल हो जाने पर वे लम्बी साँस छोड़कर लौट आयी और नलिनी दीदी के कमरे के बरामदे मे पैर फैलाकर गोद में दोनों हाथ रखकर बड़ी उदासी के साथ बैठ गयीं। थोड़ी देर बाद सहसा पता चला कि भक्त-दम्पति का एक गमछा छूट गया है। माँ उसे देखकर खेद व्यक्त करने लगी। तब सेवक सन्तान[२] ने तत्काल वह गमछा उठाया और उन्हें देने चल दिया। उस समय वे लोग ज्यादा दूर नहीं गए थे। गमछा देखकर वे लोग लज्जित हुए और सन्तान के प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हुए उसे लेकर पुन: सहर्ष चल पड़े। सन्तान ने लौटकर माँ को सारी बात कही, माँ का मन भी प्रसन्न हुआ।

तब भी माँ शोकातुर हृदय के साथ पूर्वोक्त स्थान पर ही बैठी रहीं। सन्तान बाहर के कमरे में विश्राम करने जा रहे थे कि सहसा उन्होंने माँ के रोने की आवाज सुनी, "अहा, मेरी बच्ची, कल वह नहाकर क्या पहनेगी? जैसे ही साड़ी खोजेगी, तो याद आएगा माँ के यहाँ छोड़ आयी हूँ।" सन्तान व्यग्र होकर माँ के सामने खड़े हो गए। उन भक्त-महिला ने नहाने के बाद अपनी गीली साड़ी पुण्यपुकुर (तालाब) के किनारे सूखने को डाल दी थी, जाते समय याद नहीं रहा, ले जाना भूल गयी। इतनी देर तक उन्होंने अपने हृदय में जो शोक दबा रखा था, अब फूट पड़ा, वे रोते हुए खेद प्रकट करने लगीं। किसी नि:सन्तान महिला ने कटु स्वर में कहा, "लड़की क्या-क्या सँभाले, इतने बच्चे-कच्चे हैं !" उनकी कठोर वाणी ने माँ का शोक और भी बढ़ा दिया। आँसू बहाते हुए रुँधे कण्ठ से वे कहने लगीं, "भूल होने की तो बात ही है। मन क्या छोड़कर जाना चाहता है? बस एक ही रात तो बेटी माँ के पास रह पाई, जी भर कर दो बातें भी नहीं कर सकी।" सन्तान द्वारा कपड़े की ओर देखते ही नलिनी दीदी आदेश के स्वर में बोल उठीं, "यह एक बार तो दौड़ चुका है, अब फिर नहीं जाना है, अब तक वे लोग काफी दूर निकल गये होंगे।" माँ की अवस्था देखकर सन्तान स्थिर नहीं रह सका। साड़ी को हाथ में लेकर वह माँ से बोला, "बहुत दूर नहीं गए होंगे, मैं अभी देकर आता हूँ।" माँ का चेहरा खिल उठा, स्नेह भरे स्वर में बोलीं, "बेटा, धूप है, छाता लेते जाओ।" भक्त लोग बहुत दूर चले गए थे। उसे दौड़कर आते देखकर वे परम विस्मित हुए और साड़ी देखकर उन्हें याद आया कि उसे धूप में सूखने को डाला था और उठाना भूल गए थे। भक्त-दम्पति लज्जित होकर बड़े विनयपूर्वक खेद करते हुए बोले कि इतनी तकलीफ उठाकर साड़ी लाने की जरूरत नहीं थी। जब सन्तान ने माँ के दुख और उद्वेग की बात बतायी, तब पहले तो उनका मन विस्मित और स्तम्भित हुआ और फिर मातृस्नेह से उनका शरीर पुलकित और हृदय विगलित हो उठा।

यह तो बनायी हुई माँ का सन्तान के प्रति स्नेह नहीं था। इतने अल्प समय में ऐसी घनिष्ठता हो जाना सम्भव नहीं है। थोड़ी देर की मुलाकात थी। लेकिन जो स्नेह का स्पर्श उन लोगों ने पाया, वह चिरस्थायी था। यह मानो सदियों से भटकते माँ से बिछुड़ी सन्तान का माँ से पुनर्मिलन था।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

---

२. लेखक स्वयं

गीता में साधना की रूपरेखा (३/१)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम पिछले वर्ष से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

गीतोक्त अन्तिम सिद्धि का स्वरूप

गीता में वर्णित साधना की रूपरेखा देखने के प्रवाह में, हम गीतोक्त साधना का प्राथमिक या प्रारम्भिक स्वरूप जानने के उपरान्त यह देख रहे थे कि गीता के अनुसार उस साधना का मार्ग कैसे अग्रसर होता है !

– २ –

हमने देखा कि वह सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु 'मैं' तथा जगत् के नाम-रूप से व्यक्त हो रहा है – इस गुरु-शास्त्र-उपदेश-जनित शुद्ध विश्वासमय ज्ञानबोध तथा भक्तिभाव से स्वकर्म का आचरण करते रहना अर्थात् 'प्रभो, मैं और मेरा नहीं, बल्कि तुम और तुम्हारा' – इस आलोकित विश्वास के साथ विचार, भावना तथा इच्छाशक्ति – इन तीनों के द्वारा उस हृदयेश्वर में, उस विश्वेश्वर में तन्मय हो जाने का प्रयत्न करना ही गीतोक्त साधना का प्रारम्भिक स्वरूप है। ज्ञान-भक्ति-कर्म के इस स्वभाव-सुन्दर समन्वयात्मक त्रियोग आचरण को ही गीता ने 'कर्मनिष्ठा' का सटीक नाम दिया है।

इस त्रियोग से भगवान में निष्ठ या स्थित होने का यत्न करते रहने से साधक के कर्म, चाहे वे बाह्यत: श्रेष्ठ हों या कनिष्ठ, सिर्फ 'कार्य' नहीं रह जाते, बल्कि उस विराट् प्रभु की 'बोधमय पूजा' का रूप ले लेते हैं। इसके बाद तपस्या शरीर-मन को दण्डित करना मात्र नहीं रह जाता; युद्ध केवल लड़ाई मात्र नहीं रह जाती; कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्य केवल खेती-गोपालन-व्यापार नहीं रह जाता; और परिचर्या केवल नौकरी मात्र नहीं रह जाती – ये समस्त कार्य तब उस सर्वमय प्रभु की ज्ञानमय अर्चना-उपासना बन जाते हैं।

'ऐसी' कर्मनिष्ठा या त्रियोग का आचरण करते रहने से साधक में धीरे-धीरे परिवर्तन आने लगता है।

समस्त भोग्य वस्तुएँ नाम-रूपात्मक, क्षणभंगुर, अनित्य व असत् हैं और एकमात्र प्रभु ही सत्य हैं – तीनों योगों का आधारभूत तथा गुरु-शास्त्र-प्रसाद द्वारा आलोकित यह विश्वास ज्यों-ज्यों सबल होने लगता है, दृढ़ होने लगता है, अंकुरित होने लगता है, शुद्ध होने लगता है, त्यों-त्यों उस साधक की अनित्य-असत् भोग्य वस्तुओं में आसक्ति घटती जाती है, उसके फलस्वरूप उसी मात्रा में इन्द्रिय-मन का संयम भी स्वत: ही सहज भाव से सधने लगता है और इतना ही नहीं, उसकी भोगस्पृहा तथा भोगप्रवृत्ति भी निर्बल होने लगती है।

इस प्रकार भोग्य विषयों में आसक्ति का ह्रास, सहज-स्फूर्त अन्तर-बाह्य संयम में वृद्धि तथा भोगस्पृहा का क्षय होते रहने से उस साधक के चित्त के विक्षेप हटने लगते हैं। इस क्रम से कारणों-सहित चित्तविक्षेप घटने से चित्त उतना ही शान्त तथा निर्मल होता जाता है। जल जितना ही निर्मल तथा शान्त होता है, उसके तल में स्थित वस्तु उतनी ही स्पष्ट दिखने लगती है। इसी प्रकार साधक के विक्षेप घटने से निर्मल तथा शान्त हुए उसके चित्त के तल में स्थित वह सच्चिदानन्द आत्मा 'उसी अनुपात में' अधिक स्पष्टता के साथ अनुभव होने लगती है। और यह सत्य उसी अनुपात में अधिक स्पष्ट रूप से बोध में आने लगता है कि 'मैं तथा जगत्' उस आत्मनाथ की ही मिथ्या-नाम-रूपात्मक लीला हैं।

और इस तरह विक्षेप घटकर चित्त ज्यों-ज्यों निर्मल तथा शान्त होते जाता है, त्यो-त्यों तल मे स्थित उन आत्मनाथ की, उन विश्वनाथ की प्रतीति अधिक उज्ज्वल होने लगती है और इस प्रकार इस बोध के अधिक उज्ज्वल हो जाने से विक्षेप अधिकाधिक घटकर चित्त अधिकाधिक निर्मल तथा शान्त होता जाता है।

इस प्रकार विक्षेप-शान्ति तथा आत्म-बोध की यह अन्योन्याश्रित, परस्परोपकारक तथा परस्पर-वर्धक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया कर्मनिष्ठा के काल में साधना की गति के साथ-साथ अधिकाधिक उन्नत होते-होते साधक के आध्यात्मिक जीवन में, अर्थात् उसके अन्तर्जीवन मे एक ऐसा समय आता है, जब 'मैं तथा जगत् – यह सब नामरूपात्मक तथा असत् है और वह अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप प्रभु ही उन सब रूप में लीला कर रहा है' – उस साधक का इस गुरु-शास्त्र-लब्ध इस सत्य में विश्वास अब केवल 'विश्वास' ही न रहकर प्रत्यक्ष 'अनुभूति' का रूप लेने लगता है ! 'मै-मेरा नही, बल्कि प्रभो, तू-तेरा' – इस परम सत्य का अनुभव अस्फुट तथा झलक के रूप में ही सही, पर अब यह उसकी अनुभूति की पकड़ में, उसके अनुभव की सीमा में आना प्रारम्भ हो जाता है।

और इस प्रकार 'विश्वास' को 'अनुभव' मे विकसित कराना, साधक के लिये 'अनुभूति का द्वार' खुलवाना, साधक के चित्त

को निर्मल व शान्त करके उसे सत्य की प्रत्यक्ष-अनुभूति के लिये 'सक्षम' बनाना ही वस्तुत: 'कर्मनिष्ठा' का 'उद्देश्य' है।

और प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार 'कर्मनिष्ठा' का कार्य पूरा हो जाने पर, वह साधक जिस गुरु-शास्त्रोपलब्ध सत्य में जीवन्त विश्वास रखकर अब तक ज्ञान-भक्ति-कर्म रूपी योगों का आचरण कर रहा था, उस सत्य के उसके 'अनुभव' में आना प्रारम्भ करते ही वह कर्मनिष्ठा में 'सिद्ध' हो जाता है।

और इसीलिये इस अवस्था को 'कर्मनिष्ठा-जनित सिद्धि' तथा 'ज्ञाननिष्ठा-योग्यता' ये दो नाम दिये गये हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जो साधक अब तक केवल कर्म से (त्रियोग से), अर्थात् विश्वास के द्वारा भगवान में निष्ठ या 'स्थित' हो सकता था, वही अब ज्ञान अर्थात् 'अनुभव' द्वारा भगवान में निष्ठ या स्थित होने के लायक, पात्र या 'योग्य' बनता है।

– ३ –

उस कर्मसिद्ध साधक को अब अपनी ही सत्ता में उन एकमेवाद्वितीय प्रभु का बोध होना आरम्भ हो जाने से उसे अ-पार्थिव, विमल आनन्द होने लगता है। क्योंकि, उन प्रभु का मूल स्वरूप ही सत् चित् आनन्द है। उन सत् चित् आनन्द की अब उस साधक को प्रत्यक्ष अनुभव आने की शुरुआत हो चुकी होती है। पर श्रीगुरु व शास्त्र के मार्ग-दर्शन के अनुसार वह साधक उस 'आनन्द' का स्वाद लेने के पीछे न लगकर, उस आनन्द-बोध के आधार, अर्थात् उन सच्चिदानन्द प्रभु का अधिकाधिक अनुभव प्राप्त करने के पीछे लग जाता है।

अर्थात् 'मैं तथा मेरा, मैं तथा जगत् – सब कुछ नाम-रूपात्मक मिथ्या हैं और वह सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु ही एकमेव सत्य हैं तथा इन मिथ्या नाम-रूपों में भी वही अभिव्यक्त हो रहा है' – हृदय के भीतर यह अनुभव आने के कारण, साधक उन लीलामय प्रभु में 'पूर्णतया' डूब जाने को अतीव 'आतुर' या 'व्याकुल' हो उठता है।

और उसे अपने हृदय के भीतर से ही यह बोध होने लगता है कि 'मेरी यह प्राणस्पर्शी, प्राणान्तक व्याकुलता उन प्रभु की पूर्ण अनुभूति के बिना कदापि शान्त होनेवाली नहीं है' और गुरु तथा शास्त्र भी उसे यही बताते हैं। और उन प्रभु के इस पूर्ण अनुभूति के मार्ग में – उन प्रभु में पूर्णतया निमग्न होने के मार्ग में, जो कुछ भी बाधा डाल सकती है, विक्षेप ला सकती है, वह उन भली-बुरी सारी चीजों का निर्दयता परन्तु परम सन्तोष एवं तत्परता के साथ त्याग करता जाता है। इसके लिये वह स्वयं को संयमित कर समस्त स्थूल-सूक्ष्म भोग्य विषयों का तथा उनके बारे में अपनी रुचि-अरुचि का त्याग कर देता है। इसके लिये वह लोकसंग का त्याग करता है। इसके लिये वह न्यूनतम आवश्यकता से अधिक या विशेष खाने-पीने का त्याग करता है। इसके लिये वह तन-मन-वचन की सभी प्रतिकूल या विजातीय क्रियाओं का त्याग करता है। उसके लिये वह स्वयं के व्यक्तित्व-बोध का, समस्त वासनाओं का, संग्रह-वृत्ति का, और यहाँ तक कि जीवित रहने की इच्छा तक का त्याग कर देता है.। वह ज्ञानगर्भित, सबोध वैराग्य के अमोघ बल पर ऐसे विक्षेप उत्पन्न करनेवाली सभी वस्तुओं तथा वृत्तियों का त्याग करके, सदा-सर्वदा केवल प्रभु में डूबे रहने में मग्न हो जाता है – ध्यानयोग-परायण हो जाता है।

इस ध्यान की महत्ता का क्या वर्णन करें? –

वह एकमेवाद्वितीय, अखण्ड सच्चिदानन्द प्रभु ही एकमेव सत्य है तथा बाकी सब कुछ नाम-रूपात्मक है, असत्य है, उसी का लीला-विलास है – इस अनुभव-बोध से जिनके हृदय में मैं-मेरा, भोक्ता-भोग्य, विषयी-विषय आदि की सत्यता के बोध का मल दूर हो चुका है, और उस बोध से जन्म लेने वाली भोग-वासना की वायु से उत्थित होने से शरीर तथा मन के भोगोद्यम की लहरों के थम जाने के कारण जो हृदय शुद्ध, निर्मल, पारदर्शक, निस्तरंग, शान्त हो चुका है, उस एकाग्र चित्त से अब होनेवाले ध्यान की महिमा का क्या वर्णन करें?

* * *

इन सबसे क्या साधित होता है? यह सब करने से क्या लाभ होता है?

किसी तालाब के तल में कोई वस्तु पड़ी हो, पर उसका जल के मटमैल होने तथा लहरों के सतत हिलते-डुलते रहने के कारण, वह न दिखे और फिर ऐसी स्थिति चली जाय, तो जल स्वच्छ पारदर्शी, निर्मल होने तथा उन लहरो के थम जाने पर तल की वस्तु कैसी स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है ! –

वैसे ही इन सबसे साधक का भी हो जाता है। उसे 'उस' ध्यान में अपने चित्त के, अपने बोध के तल में स्थित वह वस्तु अब बिल्कुल स्पष्ट, बिल्कुल स्वच्छ दिखाई देने लगती है।

हाँ, पर यह तो हुआ स्थूल दृष्टान्त। उस साधक की 'अनुभूति' की दृष्टि में इसका क्या अर्थ होगा?

इसका अर्थ यह है कि अब यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से उसके बोध में आने लगती है कि 'मैं' तथा 'जगत्' नाम की चीज वस्तुत: है ही नहीं, है तो केवल वह सत्ता-प्रकाश-सुख-स्वरूप प्रभु ही, यह सब कुछ वही है।

यह सच है कि 'कर्मसिद्ध' होने के बाद से अब तक इस तरह का अनुभव उसे हो रहा था। पर उसका वह अनुभव अब तक 'स्थिर' नहीं था। उसके अब भी 'साधक' ही होने के कारण हृदय में रहनेवाले 'मैं-मेरे' सत्यता के बोध का थोड़ा-बहुत मैल तथा उस बोध में से जन्म लेनेवाली वासनानाओं की वायु के कारण बीच-बीच में उठनेवाले शारीरिक, मानसिक भोगोद्यम की लहरें तथा तरंगें, इन सबके कारण वह अनुभव बीच-बीच में अस्पष्ट हो जाता था। अब मात्र विक्षेपों के त्याग

तथा ध्यान के प्रयत्नों से वह मैल, वह वायु, वे लहरें या वे तरंगें धीरे-धीरे विलय होकर बीच-बीच में अस्पष्ट होना भी रुक जाता है और इसलिये वह अनुभव एकदम सतत अखण्डित रूप में स्फुरित होने लगता है। इसी को प्रभु कहते हैं – **ब्रह्म-भूयाय कल्पते** – 'वह ब्रह्म होने के योग्य बन जाता है।'

अर्थात् साधक अब उस अनुभव में, उस बोध में, उस ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है –'ज्ञान-प्रतिष्ठ' या 'ज्ञान-निष्ठ' हो जाता है। अब तक उसे प्रयत्न करके इन विक्षेपकारी स्थूल चित्तवृत्तियों को रोकना पड़ता था, अब वृत्तियों की 'फड़फड़ाहट' भी बन्द हो जाती है। और –

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमासमृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।

– "जैसे वायुरहित स्थान में रखे दीपक की ज्योति जरा भी न हिल-डुलकर शान्त, मन्द जलती रहती है, इस निर्मल-पारदर्शक-निस्तरंग-शान्त चित्तवाले साधक का आत्मध्यान भी उसी प्रकार का हो जाता है।"

सारांश यह कि 'वह सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द 'प्रभु ही मैं और मैं ही वह' – इस बोध का, इस प्रत्यक्ष अनुभव का प्रवाह अब उसके चित्त में सदा, सतत, अविरत, अखण्डित रूप से बहने लगता है। और कुछ भी नहीं – अन्दर-बाहर सदा केवल अखंडित सच्चिदानन्द-बोध।

* * *

तो फिर और क्या बाकी रहा? अब तो वह साधक कृतार्थ ही हो गया। उसका मार्ग समाप्त हो गया।

– ४ –

नहीं! गीता कहती है कि उसका मार्ग समाप्त होने जैसे लगता जरूर है, लेकिन वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि उसका मार्ग तो समाप्त हो चुका है परन्तु चलना अभी तक बन्द नहीं हुआ है। रास्ता खत्म है, पर यात्रा अभी भी बाकी है।

यह कैसे!

ऐसे – तालाब का पानी स्वच्छ, पारदर्शी, निस्तरंग होकर तल की वस्तु दीखने लगना और उसका हाथ में आ जाना – दोनों क्या एक ही बात हैं या अलग-अलग? बिल्कुल अलग।

वैसे ही, अब उस साधक को उस सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय अखण्ड सच्चिदानन्द प्रभु का सतत अनुभव होता रहता है। अपने भीतर, अपने बाहर, स्वयं के तथा अन्य सभी के रूपों में उसे वही दिखाई देता है, कहीं भी उसके अलावा कुछ और दिखाई नहीं देता। यह सत्य है, परन्तु वह उसे 'दिखाई' देता है, अभी 'मिला' नही है।

ऐसा क्यों होता है? क्यों अभी भी वह उसे 'मिलता' नहीं, केवल 'दिखाई' ही देता है?

क्योंकि – उस अन्तर्बहिर्वर्ती एकमेवाद्वितीय प्रभु को 'देखनेवाला', 'अनुभव करनेवाला', 'प्राप्ति का इच्छुक' अब भी वहाँ पर स्थित है न, इसीलिए।

बेचारा खुद ही स्वयं तथा प्रभु के बीच आ रहा है।

* * *

यह क्या बात हुई?

बात अत्यन्त गूढ़, गहन तथा सूक्ष्म है। यथासम्भव सुबोध रीति से, स्थूल दृष्टान्तों की मदद से बताया जाय, तो संक्षेप में वह इस प्रकार है –

मैं तथा मेरा, मैं और जगत्, भोक्ता तथा भोग्य, विषयी तथा विषय – ये सब प्रतीत हो रहे हैं, उस स्वरूप में सत्य है – हमारा ऐसा बोध होने के कारण, हमारे चित्त में निरन्तर 'मैं यह देखता हूँ, मैं यह भोगता हूँ, मुझे ऐसा लगता है, मैं यह जानता हूँ, मैं ऐसा करता हूँ' आदि असंख्य वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इन सभी वृत्तियों का आधार होता है विषयी-विषय का द्वैत भाव। अत: इन वृत्तियों को द्वैत वृत्ति कहते हैं।

ये विषयी तथा विषय नाम-रूपात्मक, नश्वर, अशाश्वत, अनित्य, असत्य, मिथ्या हैं और वह सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु ही सत्य है, तथा वही इन सारे नामों तथा रूपों के माध्यम से लीला कर रहा है। इस गुरु-शास्त्र-लब्ध श्रद्धा-विश्वास के साथ ज्ञान-भक्ति-कर्म से समन्वित कर्मनिष्ठा का आचरण करते-करते क्रमशः चित्त शुद्ध होकर साधक का वह विश्वास अनुभव का रूप धारण करने लगता है। यह सब हम विस्तारपूर्वक देख आये है।

अर्थात् अब उसे इस सत्य का – प्रभु ही सत्य है, विषयी-विषय ये नाम-रूप असत्य है, तथा प्रभु ही उन नाम-रूपों में शोभित हो रहा है, इस सत्य का अनुभव होना शुरू हो जाता है। (यह है कर्मनिष्ठा-जनित सिद्धि या ज्ञाननिष्ठा-योग्यता)

तथापि, वह अब भी साधक ही होने के कारण, अब भी अज्ञान में ही होने के कारण, उसे उस सत्य के अनुभव के साथ-ही-साथ असत्य विषयी-विषय का अनुभव भी होता रहता है। इस कारण उसका वह सत्य का अनुभव बार-बार अस्पष्ट हो जाता है और अखण्डित सत्यानुभूति के लिये व्याकुल बन चुका वह साधक उस विक्षेपकारक असत्य-अनुभव को अपने सत्य-अनुभव के द्वारा बारम्बार उद्भासित करके, उज्जवल करके उस आनन्दमय सत्यानुभव मे अधिकाधिक डूबने का प्रयत्न करता है।

यह प्रयत्न धीरे-धीरे सफल होने पर साधक उस सत्यानुभव में बिना भ्रमित हुये स्थिरतापूर्वक डूब कर रह सकता है – स्थित हो सकता है। (यही है वह ज्ञाननिष्ठा)

इस अवस्था में उसका असत्यानुभव – विषयी-विषय का

अनुभव – उसके सत्यानुभव से अभिभूत हुआ होता है, शान्त हुआ होता है। अत: अब उसके चित्त में 'मैं देखता हूँ, मैं भोगता हूँ, मुझे ऐसा लगता है, मैं यह करता हूँ' आदि वृत्तियाँ जरा भी नहीं उठतीं। बल्कि अब उसके चित्त में, मैं विषयी तथा जगत् विषय, पूर्णत: मिथ्या होकर 'वह एकमेवाद्वितीय प्रभु ही यह सब कुछ है – यही एक वृत्ति स्फुरित होने लगती है।

अर्थात् मै विषय या अमुक-अमुक होकर इन विषयों का ज्ञाता-भोक्ता हूँ, इस तरह की सभी वृत्तियों का अन्त होकर वही प्रभु ही मैं तथा जगत् हैं, मैं वह सर्वमय प्रभु ही हूँ – अब यह एक ही वृत्ति उसके सम्पूर्ण चित्त में स्पन्दित होने लगती है।

हमने पहले देखा कि मैं विषयी या ज्ञाता-भोक्ता-कर्ता होकर, विषयों के सहारे से ज्ञान-भोग-कर्म कर रहा हूँ, इस बोध को ही 'द्वैत-वृत्ति' कहते हैं।

और मैं तथा वे विषय – दोनों मिथ्या होने के कारण मैं उन विषयों का विषयी या ज्ञाता-भोक्ता-कर्ता न होकर, वह सर्वमय प्रभु ही मैं हूँ, मैं वह प्रभु ही हूँ, ('अहं ब्रह्मास्मि') – इस बोध को 'अद्वैत-वृत्ति' कहते हैं।

पुन: वही तालाब का उदाहरण लेकर यहाँ कहा जा सकता है कि उस साधक का चित्त-सरोवर अब पूर्णत: स्वच्छ, निर्मल, पारदर्शी तथा लहरों-तरंगों से शून्य हो चुका है। और इसलिये उसे चित्त-सरोवर के तल में स्थित उपरोक्त सत्यरूपी सर्वातीत-सर्वगत, एकमेवाद्वितीय, अखण्ड सच्चिदानन्द प्रभु एकदम स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है।

पर 'दिखता' है, 'प्राप्त' नहीं हुआ है – 'बीच' में आता है वह स्वच्छ निर्मल-पारदर्शी-निस्तरंग जल – वह अद्वैत 'वृत्ति'।

अभी तक बाधा थी मल-तरंगों का, द्वैत-वृत्ति का, अब अड़चन है निर्मल-निस्तरंग जल का – अद्वैत-वृत्ति का।

क्योंकि कितना भी निर्मल-निस्तरंग हो, तथापि वह 'चित्तवृत्ति' है, उसमें 'मैं अमुक-अमुक विषयी अमुक-अमुक विषय जानता हूँ' – यह भाव, अर्थात् विषयी-विषय बोध नहीं है ऐसा लगता है, पर यह केवल लगना ही है। वस्तुस्थिति वैसी नहीं होती।

उस वृत्ति में भी विषयी तथा विषय रहते हैं।

उस वृत्ति में विषय के रूप में 'पार्थिव' वस्तुएँ नहीं होतीं। एक अपार्थिव वस्तु उस वृत्ति का विषय रहता है – स्वयं प्रभु ही उस वृत्ति के विषय होते हैं!

और 'उस प्रभु से मैं अभिन्न हूँ' ऐसी अभेद-वृत्ति अनुभव करनेवाला 'मैं' उस वृत्ति का 'विषयी' होता है।

और विषयी-विषय बोध होना – विषयी-विषय सत्य हैं, ऐसा लगना ही तो अज्ञान है। इस साधक में वह बोध अब भी है – तो फिर 'विषय' कितना भी 'अपार्थिव' हो और 'विषयी' कितना भी शुद्ध हो, तथापि उसमें विषयी-विषय का यह अज्ञानजन्य बोध रहते हुए भी भला कैसे कहा जा सकता है कि उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे प्रभु मिल गये है?

इसलिये तो कहा जा सकता है कि अब प्रभु एकदम स्पष्ट 'दिखते' हैं – पर 'मिले' मात्र नहीं हैं।

और ऐसा होने का कारण? कारण है – उसका वह प्रभु को देखनेवाला 'मैं'। 'मैं प्रभु से एक हो गया हूँ' – यह अनुभव लेनेवाला (वृत्तियुक्त) यह 'मैं' ही अब प्रभु के साथ उसके 'वास्तविक' एक होने के मार्ग का, प्रभु उसे 'प्राप्त' होने के मार्ग का एकमेव रोड़ा बन जाता है! इस तरह अब वह बेचारा साधक स्वयं ही स्वयं तथा प्रभु के बीच आ जाता है।

तो कुल मामला ऐसा है!

– ५ –

यह बड़ी ही विलक्षण, अद्भुत अनुभवावस्था है, है न?

भगवान श्रीरामकृष्ण ने इसका वर्णन करते हुए बड़ा सहज दृष्टान्त दिया है – काँच की आलमारी में रखी पुस्तकों का। काँच के दरवाजों वाली एक आलमारी है – दरवाजा बन्द है। भीतर पुस्तकें हैं। हम उस पुस्तक को स्पष्टत: देख सकते हैं, उसका नाम भी बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है, पर उसके तथा हमारे बीच स्वच्छ पारदर्शी काँच होता है। पुस्तक का बिल्कुल स्पष्ट 'दिखना' अलग बात है और 'हाथ में आना' अलग। वे कहते थे – उस अवस्था में जीव तथा आत्मा के बीच बस एक काँच के समान पारदर्शी, महीन पतला परदा मात्र रह जाता है। यह परदा अर्थात् 'अद्वैत-वृत्ति'।

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि इस अवस्था में साधक अपने उस चैतन्यनाथ से 'एक' हो चुका होता है, 'इतना' कि उसे स्वयं का 'मैं' ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता! तो भी 'मैं' तो रहता ही है। कैसे? वे कहते हैं – मान लो सूर्य उदित हो चुका है और एक व्यक्ति उसकी तरफ पीठ करके खड़ा है, सामने पड़ी हुई स्वयं की छाया उसे दिखती है। सूर्य धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रहा है, छाया वैसे-वैसे छोटी होती जाती है। सूर्य बिल्कुल सिर पर आ चुका है। छाया? दिखाई ही नहीं देती। दिखेगी कैसे? कारण, वह स्वयं ही तो उस छाया पर खड़ा है। सूर्य को थोड़ा-सा उतरने दो, फिर से छाया बढ़ने लगेगी। इस साधक का भी ऐसा ही है। उसके चित्ताकाश में अनुभव सूर्य उदित होकर ऊपर-ऊपर चढ़ रहा था, वैसे-वैसे 'मैं' रूपी छाया क्रमश: छोटी हो रही थी। अनुभव सूर्य अपने पूर्ण तेज के साथ चमकने लगा। 'प्रभु ही मैं, मैं ही प्रभु' – यह अनुभव अति उज्ज्वल रूप में, विलक्षण तेजस्विता के साथ होने लगा – हाँ, पर किसे? 'मैं और प्रभु एक' यह अनुभव 'मुझे' ही हो रहा है न! मैं के या चित्त के जिस शुद्ध, स्वच्छ अवस्था में यह उज्ज्वलतम एकत्वानुभव होने लगता है, उस अवस्था को

शेष अगले पृष्ठ पर

श्रीरामकृष्ण और उनकी देन

स्वामी आत्मानन्द

भारत का राष्ट्रीय उन्मेष लगभग सर्वदा ही धार्मिक पुनर्जागरण से सम्बद्ध रहा है। अत्यन्त प्राचीन काल से गुरुकुलों, तपोवनों तथा आध्यात्मिक विचार एव सस्कृति के अन्य केन्द्रों ने हमारी राष्ट्रीय जीवन-धारा का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। चाहे वह काश्यों और मैथिलों का प्राचीन जमाना रहा हो, अथवा चाहे बाद का अशोक या विजयनगर के साम्राज्य का काल रहा हो, अथवा और भी बाद में बगाल के नवजागरण एव सिखों तथा मराठों के उत्कर्ष का काल रहा हो, हम सर्वत्र एक ही नियम से कार्यशील पाते हैं और वह यह कि भारत में धार्मिक जागरण राष्ट्रीय जीवन के उन्मेष के लिए रास्ता तैयार किया करता है। **धर्म वह पत्थर की नींव है, जिस पर भारत राष्ट्र का जीवन-सौध खड़ा है** और धर्म ने ही यहाँ जीवन और सस्कृति को, साहित्य और कलाओं को, दृष्टिकोण एवं परम्पराओं को एक विशेष रंग से रंजित किया है।

भारत में १९ वीं शताब्दी इसका अपवाद नहीं रही। जब देश लगभग हजार वर्ष की गुलामी में दबकर मृतप्राय हो रहा था, जब ऐसा लगता था कि विदेशी सस्कृति और सभ्यता की गर्वोद्धत चकाचौंध में भारत की अस्मिता पूरी तरह विनष्ट हो जाएगी, ऐसे समय श्रीरामकृष्ण परमहस का आगमन उसी सत्य की पुष्टि करता है, जिसका कथन हमने अभी ही किया है। श्रीरामकृष्ण और उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द अपने जीवन और सन्देश के माध्यम से धर्म का जो नव-जागरण साधित करते हैं, वही भारत में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का पुरोधा बनता है।

श्रीरामकृष्ण का जन्म १८ फरवरी १८३६ को, फाल्गुन शुक्ल द्वितीया की तिथि को, बंगाल के एक छोटे-से गाँव कामारपुकुर के एक निर्धन किन्तु धर्मपरायण परिवार में पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय और माता चन्द्रामणि देवी के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र के रूप में हुआ था। उनकी शिक्षा नहीं के समान हुई थी और गाँव की पाठशाला ने इतना ही किया था कि वे अपने हस्ताक्षर कर लेते थे तथा थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ लेते थे। पर हम आधुनिक दृष्टि से शिक्षा का जो अर्थ समझते हैं, उससे वे नितान्त रहित थे। फिर भी अपने स्वय के साधुत्व-भरे जीवन की पाठशाला में उन्होंने जो शिक्षा उपलब्ध की थी, वह बड़े-से-बड़े शिक्षाविद् और विद्याविद् को अभिभूत करने में समर्थ थी। यद्यपि वे मात्र पाँच दशक ही इस ससार में विद्यमान रहे, पर इन **पचास वर्षों में ही उन्होंने दुनिया के सारे धर्मों और सारी आध्यात्मिकता को जी लिया**। फ्रेंच मनीषी रोमाँ रोलाँ उनके जीवन-वृत्तान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सन् १९२८ में उनकी एक मौलिक जीवनी रच डाली, जिसमें अपने पश्चिमी पाठकों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा –

''मैं यूरोप के निकट, उसके लिए अभी भी अपरिचित, नव शरद् ऋतु का फल लाकर प्रस्तुत कर रहा हूँ – ला रहा हूँ आत्मा का एक नव-सन्देश, भारत का वह महा-सगीत, जिसका नाम रामकृष्ण है। यह दिखाया जा सकता है (और हम संकेत करने से चूकेंगे नहीं) कि यह महासगीत, हमारे स्वर-शास्त्र के प्रणेताओं के ही समान, अतीत से निकलने वाले एक शत विभिन्न स्वरों के मेल से बना है। ... जिस व्यक्ति का चित्र मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ, **वह तीस करोड़ लोगों के दो सहस्र वर्ष के आध्यात्मिक जीवन का परिपूर्ण रूप था। यद्यपि उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हो चुके हैं, फिर भी उसकी आत्मा आधुनिक भारत को प्राणवन्त कर रही है**। वह गाँधी के समान कर्मक्षेत्र का कोई हीरो नहीं था, गेटे या टैगोर के समान कला या चिन्तन का कोई जीनियस नहीं था। वह तो बगाल के एक छोटे-से गाँव का सामान्य ब्राह्मण था, जिसका बाहरी जीवन अपने युग की

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ही कहते है – अद्वैत-वृत्ति ! गलतियाँ करो, साधना रोक दो, उस अनुभव-सूर्य को थोड़ा-सा झुकने दो – फिर 'मैं' रूपी छाया बढ़ने लगेगी – फिर से द्वैतवृत्ति पैदा होने लगेगी। अत: यह केवल 'स्पष्ट दिखना' है, 'मिलना' नहीं।

भगवान श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य श्रीमत् स्वामी शिवानन्द इस विषय में एक बड़ा मार्मिक दृष्टान्त देते थे – किसी विवाहातुर तरुण युवक की शादी किसी तरुणी से तय होती है, सगाई हो गयी है, यह मेरी पत्नी है यह उसे स्पष्ट बोध होता है, यह बिल्कुल सत्य भी है, सच मे ही वह उसकी पत्नी बन चुकी है, पर उसे अभी मिली नही है। खैर, गुरुमुख से इस अवस्था का वर्णन सुना है – 'Unrealised realisation' – 'अप्रत्यक्षी-भूत साक्षात्कार' या 'अप्राप्त प्राप्ति' – ऐसा।

❖ (क्रमश:) ❖

राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों की परिधि से बाहर एक सीमित साँचे में ढला हुआ था, जिसमें कोई उल्लेखनीय घटना नहीं थी। किन्तु उसके भीतरी जीवन ने मानव और देवताओं की समूची बहुलता को अपने में समेट लिया था। यह उस दैवी शक्ति के उत्स का ही एक भाग था, जिसके गीत मिथिला के पुराने कवि विद्यापति तथा बंगाल के रामप्रसाद ने गाये थे।''

श्रीरामकृष्ण का अधिकांश जीवन कलकत्ते के दक्षिणेश्वर-स्थित काली-मन्दिर के एक छोटे-से कमरे में ही बीता। **वे न तो प्रचारक थे, न उपदेशक, न विचारक थे, न सुधारक।** पर अपने उस छोटे-से कमरे में बैठकर ही उन्होंने जो कुछ किया और कहा उसका प्रभाव दुनिया में इतनी तीव्र गति से फैला कि उन्हें बिना देखे, केवल उनकी बात सुनकर और पढ़कर ही, उनके जीवन-काल में ही, प्रख्यात प्राच्यविद् मैक्समूलर ने A Real Mahatma (एक सच्चा महात्मा) शीर्षक से 'नाइटीन्थ सेंचुरी' पत्रिका में लेख लिखकर उनके नाम को विश्व भर में फैला दिया। श्रीरामकृष्ण ने सभी धर्मों की साधनाएँ कर जिस एक सत्य को प्राप्त किया था तथा उसके फलस्वरूप वे जिस सतत ईश्वरीय बोध में रहते थे, उससे प्रभावित हो मैक्समूलर ने लिखा – ''ईश्वर की उपस्थिति का यह सतत बोध वास्तव में ऐसी सामान्य भूमि है, जिस पर अनतिदूर भविष्य में हम उस भावी विशाल मन्दिर के निर्माण की आशा कर सकते हैं, जिसमें हिन्दू और गैर-हिन्दू एक ही परमेश्वर की उपासना हेतु अपने हृदय और हाथों को जोड़कर एक होंगे।''

श्रीरामकृष्ण सही अर्थों में परमहंस थे। उनमें मानव-जीवन की विपरीत विधाएँ आकर एक हो गयी थीं। वे गृहस्थ थे, पर साथ ही बाल-ब्रह्मचारी सर्वत्यागी संन्यासी भी थे। पत्नी को अपने पास ही रखा, पर दैहिक धरातल पर वे कभी नहीं मिले। उनके लिए पत्नी उनकी जगदम्बा काली थी, तो वे भी अपनी पत्नी के लिए माँ-काली थे। पत्नी में जगदम्बा की षोड़शोपचार पूजा करके उन्होंने विशेषतः भारत की तथा सामान्यतः विश्व की नारी-शक्ति का ही सम्मान किया और भारत की कुण्ठित नारी-शक्ति को एवंविध उन्मोचित कर राष्ट्र की नव-जागरण की प्रक्रिया को गतिशील कर दिया। **नारी के प्रति अपनी दृष्टि में वे प्रगतिशीलों से भी प्रगतिशील थे।** कबीर भी वहाँ पर उनसे पिछड़ गये। नारी के सन्दर्भ में प्रगतिशील कबीर भी सकीर्ण थे, तभी तो कह उठे थे – 'नारी तो हमहू करी, तब ना किया विचार। जब जानी तब परिहरी, नारी महा बिकार॥' पर रामकृष्ण के लिए नारी 'बिकार' नहीं, 'सत्कार' थी – त्याज्य नहीं, पूज्य थी।

फिर, **उनके पास जन्मगत या जातिगत भेद कोई मायने नहीं रखते थे।** उनकी दृष्टि में ईश्वर-भक्तों की ईश्वर-भक्त छोड़कर और कोई जाति नहीं थी। उनके पास ईश्वर-भक्त तथाकथित अछूत ईश्वर की भक्ति से विरहित सवर्ण से ऊँचा था। इस अर्थ में वे सुधारकों के भी सुधारक थे। मेहतर का शौचालय साफ करने में उन्हें कुण्ठा नहीं थी, अपितु उसमें उन्होंने आभिजात्य की भावना को साफ करने का अनुपम उपाय देखा। महात्मा गाँधी ने जब श्रीरामकृष्ण के जीवन की ऐसी घटनाओं को पढ़ा, तो उन्होंने अपने हृदय में उठनेवाले भावों को शब्दों में ढालते हुए लिखा – ''श्रीरामकृष्ण देव का जीवन-चरित्र धर्म के व्यावहारिक आचरण का विवरण है। उनका जीवन-चरित्र हमें ईश्वर को अपने सामने प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है। .. श्रीरामकृष्ण ईश्वरत्व की सजीव मूर्ति थे। उनके वाक्य किसी निरे विद्वान् के ही कथन नहीं, वरन् उनके जीवन-ग्रन्थ के पृष्ठ हैं। उन वाक्यों के द्वारा उन्होंने स्वयं अपने ही अनुभवों से प्रकट किया है। इस सन्देहवादी युग में श्रीरामकृष्ण सजीव और ज्वलन्त धार्मिक विश्वास के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।''

श्रीरामकृष्ण ने जीव में शिव देखा, नर में नारायण के दर्शन किये। वे कहा करते , ''यदि मूर्ति में ईश्वर की पूजा की जा सकती है, तो फिर मनुष्य में क्यों नहीं की जा सकती? जब तुम अपने द्वारा चूना-पत्थर से बनाये अचल मन्दिर में निर्जीव प्रतिमा बैठाकर, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करके पूजा कर सकते हो, तो जो सचल मन्दिर स्वय भगवान ने बनाया, जिसके भीतर वे स्वय जाकर प्रतिष्ठित हो गये, क्या तुम ऐसे जीवन्त ईश्वर की पूजा नहीं कर सकते?'' उनका तात्पर्य मनुष्य की देह से था, जो उनके मतानुसार भगवान द्वारा निर्मित सचल मन्दिर है। फिर कभी वे कहते, ''यह कैसी बात है कि ईश्वर बन्द आँखों से दीखते हैं और खुली आँखों से नहीं?'' तभी तो उन्होंने सिद्धान्त घोषित किया कि **नर में नारायण को देखते हुए नर की सेवा ही नारायण की सच्ची पूजा है,** जीव में शिव के दर्शन करते हुए जीव की सेवा ही शिव की यथार्थ उपासना है। और उन्होंने इसी

पूजा और उपासना के लिए हमारा आह्वान किया। ये तथा उनके अन्य विचार एव आदर्श इतने सशक्त थे कि उन्होंने जगत् में सर्वत्र विचारशील लोगों की चिन्तन-पद्धति में क्रान्ति ला दी और रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन का सूत्रपात किया।

विश्व की सभ्यता को श्रीरामकृष्ण की देन के बारे में विश्वविख्यात इतिहासकार डॉ. अर्नाल्ड टायन्बी लिखते हैं – ''श्रीरामकृष्ण एक ऐसे युग में अवतीर्ण हुए और अपना सन्देश दिया, जहाँ कि उनकी और उनके सन्देश की आवश्यकता थी। यह सन्देश शायद ही किसी ऐसे व्यक्ति के मुख से उच्चरित हो सकता था, जिसका जन्म हिन्दू धार्मिक परम्परा में न हुआ हो। ... उन्होंने एक ऐसे विश्व में जन्म लिया था, जो उनके जीवन-काल में ही इतिहास में पहली बार वास्तविक रूप से जुड़कर एक होता जा रहा था। आज भी हम विश्व-इतिहास के उसी सन्धि-काल में से होकर गुजर रहे हैं, परन्तु अब यह बात स्पष्टतर होती जा रही है कि मानव-जाति को यदि आत्म-हनन से बचना है, तो जिस अध्याय की शुरुआत पाश्चात्य देशों ने की थी, उसकी परिसमाप्ति भारत को करनी होगी। वर्तमान युग में पाश्चात्य प्रौद्योगिकी ने सम्पूर्ण जगत् को भौतिक स्तर पर एक कर दिया है। परन्तु इस पाश्चात्य निपुणता ने न केवल दूरियाँ समाप्त कर दी हैं, वरन् इसने जगत् के लोगों को एक ऐसे समय विध्वसंक हथियारों से लैस कर दिया, जबकि वे आपस में प्रेम करना सीखे बगैर ही एक-दूसरे के निकट आ पहुँचे हैं। मानव-इतिहास के इस अत्यन्त खतरनाक क्षण में भारतीय पथ पर चलना ही मानवता के उद्धार का एकमात्र उपाय है। सम्राट् अशोक और महात्मा गाँधी का अहिंसावाद तथा श्रीरामकृष्ण द्वारा धर्म-समन्वय का साक्ष्य – यहीं पर हमें एक ऐसा दृष्किोण एव मनोभाव प्राप्त होता है, जो सम्पूर्ण मानव-जाति का एक ऐसे परिवार के रूप में विकसित होना सम्भव कर सकता है – और इस अणुयुग में सर्वनाश का यही एकमात्र विकल्प है।''

श्रीरामकृष्ण के प्रति डॉ. टायन्बी की इस श्रद्धांजलि में हम भी अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

(आकाशवाणी, रायपुर से १-३-१९८७ को प्रसारित)

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में भगवान श्रीरामकृष्ण

प्रो. चमनलाल सप्रू

श्रीरामकृष्ण परमहंस का जन्म बंगाल के हुगली जिले के कामारपुकुर गाँव में हुआ था। विश्वविख्यात देशभक्त सन्त स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु के सम्बन्ध में उनके अपने ही विचारों को जानने से युगावतार श्रीरामकृष्ण के विषय में अन्तरंग जानकारी प्राप्त हो जाती है।

स्वामीजी के अनुसार परमहंस श्रीरामकृष्ण देव को त्याग और तप के संस्कार अपने परिवार से ही प्राप्त हुए थे। वास्तव में पुरानी रीति के अनुसार चलनेवाले धर्मपरायण ब्राह्मण का जीवन नित्य त्याग तथा तपस्यामय होता है। देश के अन्य वर्गों की अपेक्षा ये निर्धन होते हैं, परन्तु उनकी शक्ति का रहस्य उनके त्याग में छिपा हुआ है।

स्वामीजी के अनुसार श्रीरामकृष्ण बचपन से ही कुछ विलक्षण से थे। अपने पूर्वजन्म का स्मरण उन्हें जन्म से ही था तथा वे इस बात को भलीभाँति जानते थे कि इस संसार में उन्होंने किस उद्देश्य से जन्म लिया है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही उन्होंने अपनी सर्वशक्ति लगा दी।

स्वामीजी प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रोफेसर मैक्समूलर के इस कथन से सहमत हैं कि श्रीरामकृष्ण के विचार इस कारण स्वच्छ और मौलिक थे, क्योकि वे किसी विश्वविद्यालय में शिक्षित नहीं हुए थे।

कांचन और कामिनी के प्रति अनासक्ति ही श्रीरामकृष्ण देव के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। स्वामीजी के अनुसार, ''उनके पास जो कुछ थोड़ी-बहुत सम्पत्ति थी, वह सब उन्होंने छोड़ दिया और धन कभी न छूने का प्रण कर लिया। यह विचार कि मैं धन कभी न छूऊँगा, उनके शरीर का मानो एक अंश ही हो गया। सम्भव है यह बात तुम लोगो को कुछ गूढ़-सी लगे। पर निद्रावस्था में भी यदि मै उनके शरीर से किसी सिक्के का स्पर्श करा देता, तो उनका हाथ ही टेढ़ा हो जाता और ऐसा लगता मानो उनके सारे शरीर मे लकवा मार गया हो। दूसरा विचार जो उनके मन में उत्पन्न हुआ, वह यह था कि काम-वासना दूसरा शत्रु है। मनुष्य वस्तुत: आत्म-स्वरूप है – यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष। उन्होने सोचा कि कामिनी तथा कांचन ही ऐसे दो कारण है, जो जगन्माता के दर्शन नही होने देते। सारा विश्व जगन्माता का ही रूप है और वे प्रत्येक नारी के शरीर में वास करती हैं। प्रत्येक नारी जगदम्बा का ही

रूप है, अत: किसी नारी को स्त्री-भाव से मैं कैसे देख सकता हूँ? यह विचार उनके मन में दृढ़ हो गया था। हर नारी हमारी माता है तथा हमें उस अवस्था में पहुँच जाना चाहिए, जब हमें प्रत्येक नारी में केवल जगन्माता का ही रूप दिखे और यह ध्येय उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से निबाहा।''

आगे चलकर स्वामीजी उनके बारे में कहते हैं – ''पाश्चात्य देशों में हम प्राय: नारी-पूजन के विषय में सुनते हैं, परन्तु यह पूजन बहुधा नारी के तारुण्य तथा लावण्य के कारण ही होता है। परन्तु मेरे गुरुदेव के स्त्री-पूजन का भाव यह था कि प्रत्येक नारी में जगदम्बा का निवास है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि मेरे गुरुदेव उन स्त्रियों के चरणों पर गिर पड़ते थे, जिन्हें समाज तिरस्कृत करता है और उन स्त्रियों से भी रोते-रोते यही पुकारते थे, 'हे जगन्माता, एक स्वरूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे स्वरूप में तुम जगद्व्यापिनी हो। हे जगदम्बे, हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।' सोचकर देखो, उनका जीवन कितना धन्य है जिनका पशु-भाव पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, जो प्रत्येक रमणी को भक्ति-भाव से देख रहे हैं तथा जिनके निकट प्रत्येक नारी के मुख ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया है, जिसमें साक्षात् उसी आनन्दमयी भगवती जगद्धात्री का मुख प्रतिबिम्बित हो रहा है। हमारी दृष्टि भी इसी प्रकार की होनी चाहिए।''

गुरु की महत्ता को समझाते हुए स्वामीजी कहते हैं – ''मेरे गुरुदेव किसी को ढूँढ़ने नहीं गए। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को पहले चरित्रवान होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे कि जब कमल खिलता है, तो मधु-मक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं। इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्र रूपी कमल पूर्ण रूप से खिल जाएगा और जब तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि फल तुम्हें स्वयं ही प्राप्त हो जाएँगे और लोग तुमसे शिक्षा ग्रहण करने स्वयं आ जाएँगे। अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में इस कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं – ''**पहले हमें चरित्रवान होना चाहिए** और यही सबसे बड़ा कर्तव्य हमारे सामने है। सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को हो और उसके बाद उसे तुम अनेकों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आएँगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी। उन्होंने कभी किसी अन्य पर टीका नहीं की, किसी को बुरा नहीं कहा, वरन् सबमें अच्छाइयाँ ही देखीं।

अद्‌भुत व्यक्तित्व

अपनी प्रथम भेंट तथा अपने गुरु के अद्‌भुत व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए स्वामीजी कहते हैं – ''मेरे गुरुदेव कलकत्ता शहर के समीप रहने को आए। यह नगर उस समय भारतवर्ष की राजधानी था। यह नगर हमारे देश में शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र है, जहाँ से पढ़कर प्रतिवर्ष सैकड़ों नास्तिक तथा जड़वादी बाहर निकलते हैं। परन्तु फिर भी यहाँ के ऐसे कितने लोग इनके पास आते और इनकी बातें सुनते थे। मैंने भी इस महापुरुष के बारे में सुना और उनके पास उपदेश सुनने गया। अत्यन्त साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होनेवाले मेरे गुरुदेव बहुत साधारण भाषा का प्रयोग करते थे। उन दिनों मुझे आश्चर्य होता था कि क्या यह व्यक्ति सचमुच ज्ञानी है? मैंने उनसे प्रश्न किया – 'महाराज, क्या आप सिद्ध करके दिखा सकते हैं कि ईश्वर है?' 'हाँ', उन्होंने उत्तर देते हुए कहा – 'जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ, उसी प्रकार से मैं ईश्वर को देखता हूँ, बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।' मैं उनके पास दिन-प्रतिदिन जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है, केवल एक ही स्पर्श अथवा एक ही दृष्टि में सारा जीवन बदला जा सकता है। जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिए तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गयी।''

सर्वधर्म समन्वय अथवा समभाव

स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने गुरु श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में जो अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सत्य सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं, वे कोई परस्पर विरोध तथा वैरभावात्मक नहीं है, वे एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भाव मात्र हैं। अनन्त काल से केवल एक ही सनातन धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रीति से प्रकट होता है। अतएव हमें सब धर्मों को मान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके उनके तत्त्वों में विश्वास रखना चाहिये।

अपने गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर स्वामीजी ने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्वावस्था को पहुँच सकता है। उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव से यह सीखा कि 'अमरत्व न तो सम्पत्ति से प्राप्त हो सकता है, न सन्तति से, वह तो केवल वैराग्य से ही पाया जा सकता है।' इतना ही नहीं स्वामीजी कहते हैं – ''**मेरे गुरुदेव के जीवन का दूसरा महान् तत्त्व दूसरों के प्रति अगाध प्रेम था।**'' नि:सन्देह श्रीरामकृष्ण युगावतार थे। स्वामीजी श्रीरामकृष्ण रूपी वेद के भाष्य स्वरूप हैं। एक कवि के अनुसार यदि गुरु श्रीरामकृष्ण सुगन्ध हों, तो शिष्य विवेकानन्द वह वायु हैं जो उसे दिग्दिगन्त में फैलाते हैं। ❑

अद्वैत आश्रम, मायावती

अद्वितीय उद्देश्य से नगाधिराज हिमालय की गोद में मायावती में रामकृष्ण मिशन का अद्वैत आश्रम निर्मित हुआ है। प्रकृति के मायावी रहस्यों से घिरा इस आश्रम का वैशिष्ट्य एक अन्य कारण से भी है। स्वामी विवेकानन्द जिन कुछ आश्रमों का प्रारम्भ अपने जीवन-काल में देख गए थे (बेलूड़ में मठ का मुख्यालय, मद्रास, मुर्शिदाबाद के महुला ग्राम में, अमेरिका में न्यूयार्क केन्द्र तथा कलकत्ता का निवेदिता विद्यालय), उसमें एक यह भी है।

आप में से अधिकांश लोग जानते हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही ईश्वर-प्राप्ति की साधना के जो अनेक मत एवं पथ प्रचलित हैं, वे मुख्यतः तीन विचारधारा के हैं – द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत। जगत्कारण ईश्वर के साथ मानव के सम्बन्ध विषयक इन तीन मतों के बीच आपस में कुछ सादृश्य है और आपात् दृष्टि से कुछ भेद भी हैं। भारतवर्ष में विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के बीच इसी मतभेद को लेकर काफी विवाद तथा सघर्ष होते रहे हैं। परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के अलौकिक जीवन-आलोक में अनुभव किया कि ये मत परस्पर-विरोधी नहीं, अपितु ये एक ही सीढ़ी के कई सोपान हैं, जिसमें एक से होकर दूसरे पर चढ़ना पड़ता है। स्वामीजी द्वारा इस समन्वय तथा सामंजस्य की खोज ने जैसे भारत को समृद्ध किया, वैसे ही भविष्य में धर्म-संघर्ष से मुक्ति हेतु आमोघ सम्भावना तथा प्रेरणा भी प्रदान की।

श्रीरामकृष्ण के पुण्य-नाम पर स्थापित मठ में उनकी मूर्ति या चित्र पूजित हो, यह तो स्वाभाविक ही है। स्वामीजी की इच्छा थी कि सघ के केन्द्रों में इस तरह की द्वैत उपासना प्रचलित रहे, पर साथ ही ऐसा भी एक केन्द्र हो, जहाँ कि शुद्ध अद्वैत की ही चर्चा हो। वहाँ कोई भी मूर्ति या चित्र नहीं रहेगा, किसी भी प्रकार की प्रथागत पूजा या उपासना न होगी। उस आश्रम में केवल निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ही ध्यान होगा। द्वैत से अद्वैत में संक्रमण ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है - इसी भाव के प्रतीक-रूप में शायद भारत में वे इस आश्रम का निर्माण करना चाहते थे। साधना में उन्नत ऐसे साधकों के लिए जिनका मन साकार के परे जाना चाहता है - श्रीरामकृष्ण के शब्दों में 'जिन्हें अब रूप आदि अच्छा नहीं लगता', किसी निर्जन, शान्त, सुन्दर स्थान में एक आश्रम बनाने की इच्छा स्वामीजी के मन में थी। इसके अतिरिक्त भविष्य-द्रष्टा स्वामीजी यह भी चाहते थे कि निर्जन हिमालय के इस आश्रम में पूर्व और पश्चिम के शिष्यगण तीर्थ की तरह आकर यहाँ एकत्रित होंगे और परस्पर विचारों के विनिमय हेतु उपयुक्त परिवेश और सुअवसर प्राप्त करेंगे।

स्वामीजी की अभिलाषा को मूर्त रूप देने के लिए कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर नामक उनके अंग्रेज भक्तों ने हिमालय के विविध स्थानों में जाकर आश्रम के लिए उपयुक्त स्थान की खोज की। स्वामीजी के संन्यासी-शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द ने उन लोगों की मदद की। अन्त में मायावती में जगह मिली। उत्तर प्रदेश (अब उत्तरांचल) के चम्पावत जिले में स्थित मायावती का यह आश्रम समुद्र-तल से लगभग ६५०० फुट की ऊँचाई पर है। देवदारु, पाइन, ओक तथा अन्य वृक्षों से आवृत्त वन की हरितिमा के बीच स्थित इस आश्रम का परिवेश अत्यन्त शीतल तथा निर्जन है। इसके उत्तर में प्रायः ३४० किलोमीटर विस्तृत हिमाच्छादित नन्दादेवी, त्रिशूल आदि पर्वतों के हिम-शिखर दृष्टिगोचर होते हैं। आसपास कोई भी ग्राम या बस्ती नहीं है। निकटतम ग्राम ४ किलोमीटर और सब-डिविजनल नगर लोहाघाट लगभग ९ किलोमीटर नीचे है।

एक विशाल भूखण्ड पर कुछ भवनों में, १९ मार्च, १८९९ ई. को श्रीरामकृष्ण के जन्मदिन पर मायावती के इस अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई। कुछ संन्यासी वहाँ रहने लगे। सेवियर दम्पति एक पृथक् भवन में ठहरे। आश्रम की स्थापना के साथ ही अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' का कार्यालय यहीं चला आया। यह पत्रिका स्वामीजी की प्रेरणा से सन् १८९६ ई. में मद्रास से बी.आर. राजम् अय्यर के सम्पादन में आरम्भ हुई थी। स्वामीजी इनकी खूब प्रशसा करते थे। मई, १८९८ ई. में राजम् अय्यर की अकाल मृत्यु होने के कारण कैप्टेन सेवियर के सरक्षण में पत्रिका का कार्यालय अल्मोड़ा आ गया तथा अद्वैत आश्रम के प्रथम अध्यक्ष स्वामी स्वरूपानन्द के सम्पादन में प्रकाशित होने लगा। मायावती आ जाने के बाद वहाँ से अगस्त, १८९८ में पत्रिका का प्रथम अक स्वामीजी की एक उद्दीपक कविता 'प्रबुद्ध भारत के प्रति' के साथ प्रकाशित हुआ।

इस अद्वैत आश्रम की परिचय-पुस्तिका में छापने के लिए स्वामीजी ने मार्च १८९९ में जो लेख भेजा था, वह इस प्रकार है -

"जिसमें यह ब्रह्माण्ड स्थित है, जो इस ब्रह्माण्ड मे विराजमान है, जो ब्रह्माण्ड से एकरूप है; जिसमे आत्मा स्थित है, जो आत्मा मे स्थित है, जो मानव की आत्मा है; उसे अर्थात् ब्रह्माण्ड को अर्थात् अपनी आत्मा को जानना ही समस्त भय का विनाश करता है, क्लेशो का अन्त करता है और अनन्त मुक्ति की उपलब्धि कराता है। जहाँ कही भी प्रेम का विस्तार हुआ है अथवा व्यक्तिगत या सामुदायिक सुख-स्वाच्छन्द्य में वृद्धि हुई है, वह इस शाश्वत सत्य – 'समस्त प्राणियों के एकत्व' के ज्ञान, अनुभव तथा क्रियान्वन के द्वारा ही हुई है। पराधीनता ही दुख है और स्वाधीनता ही सुख है।

"अद्वैत ही एकमात्र ऐसा दर्शन है, जो मनुष्य को उसके अपनत्व की पूर्ण उपलब्धि कराता है – अपना स्वामी बना देता है; सारी पराधीनता तथा उससे सम्बद्ध अन्धविश्वासों को उतार फेंकता है और इस प्रकार हमें सर्व प्रकार के कष्ट सहने तथा कर्म करने में सक्षम बनाता है और अन्ततः चरम मुक्ति की उपलब्धि करा देता है ।

"द्वैतवाद की दुर्बलताओं से पूर्णतया मुक्त रूप में अब तक इस उदात्त सत्य का प्रचार सम्भव नहीं हो सका है; हमारा विश्वास है कि इसी कारण यह मानव जाति के लिए यथेष्ट व्यावहारिक तथा उपयोगी नहीं हो सका है ।

"इस महान् सत्य को व्यक्तिगत जीवन में और अधिक स्वाधीन तथा पूर्णतर अभिव्यक्ति का अवसर देकर मानव समाज को उन्नत करने के उद्देश्य से हम इसकी आदि स्फुरण भूमि – हिमालय की बुलन्दियों में इस अद्वैत आश्रम की स्थापना कर रहे हैं ।

"आशा है कि अद्वैत दर्शन को यहाँ समस्त अन्धविश्वासों तथा दुर्बलताजनक प्रभावों से मुक्त रखा जा सकेगा । यहाँ पर केवल शुद्ध एवं सरल अद्वैत सिद्धान्त के अतिरिक्त और किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाएगी और न साधन ही किया जाएगा । अन्य सभी धर्ममतों के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी, यह अद्वैत आश्रम केवल अद्वैत-भाव को ही समर्पित है ।"

स्वामी विवेकानन्द के वरिष्ठ जीवनीकार स्वामी गम्भीरानन्द जी ने 'युगनायक विवेकानन्द' ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में 'आदर्श का रूपायन' नामक अध्याय में बताया है, स्वामीजी के जीवन में अद्वैत वेदान्त के प्रति विशेष लगाव दीख पड़ने पर भी दूसरी ओर उनमें असाधारण शुद्धा भक्ति भी देखने को मिलती है । वस्तुतः स्वामीजी का जीवन ज्ञान-भक्ति-कर्म का अद्भुत सार्थक समन्वय है ।

स्वामीजी सन् १९०१ के प्रारम्भ में मायावती गए थे । सन् १९०० में पूर्वी यूरोप तथा मिस्र आदि देशों का भ्रमण करके भारत लौट आने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि कैप्टेन सेवियर का देहान्त हो गया है । अतीव मर्माहत होकर उन्होंने एक पत्र में लिखा, "सेवियर ने शहीद की तरह मृत्यु का वरण किया है ।" श्रीमती सेवियर को सांत्वना देने एव मायावती अद्वैत आश्रम के भविष्य पर विचार-विमर्श करने हेतु उन्होंने मायावती जाने का निश्चय किया । दिसम्बर में कड़ाके की ठण्ड में ही इतनी दूर पैदल चलकर अपने संगियों के साथ वे ३ जनवरी, १९०१ को मायावती-आश्रम पहुँचे । स्वामीजी वहाँ प्रायः १५ दिन थे । आश्रम के साधु-ब्रह्मचारियों ने स्वामीजी के दिव्य सान्निध्य में बड़े आनन्द के साथ कुछ दिन व्यतीत किये । आश्रम से डेढ़ मील दूर धरमगढ़ नामक एक पर्वत शिखर है, जो स्वामीजी का प्रिय साधन-स्थल था । आज भी मायावती आनेवाले प्रायः सभी भक्तगण उस पवित्र स्थान का दर्शन करते हैं ।

हम पहले ही कह आये हैं कि स्वामीजी की विशेष इच्छा थी कि मायावती आश्रम में केवल अद्वैत-भाव की साधना हो और किसी भी आचारगत द्वैत-भाव की उपासना को वहाँ प्रश्रय नहीं दिया जायेगा । परन्तु स्वामीजी ने वहाँ पहुँचकर देखा कि आश्रम के एक कमरे में कुछ आश्रमवासी धूप-दीप-पुष्प से श्रीरामकृष्ण के चित्र की पूजा किया करते हैं । इस पर असन्तुष्ट होकर उन्होंने आश्रम के सचालकों को खरी-खोटी सुनाई । इससे ठाकुर-मन्दिर तो हमेशा के लिए हट गया, तथापि एक व्यक्ति के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ - क्या स्वामीजी का यह मत अन्तिम बात है? संशय-निवारणार्थ उन्होंने संघजननी श्रीमाँ सारदा देवी को एक पत्र लिखा । उत्तर में जयरामवाटी से माँ का वह ऐतिहासिक पत्र आया -"हमारे गुरुदेव अद्वैतवादी थे । तुम लोग भी उन्हीं के शिष्य हो, अतः तुम लोग भी अद्वैतवादी हो । मैं जोर देकर कहती हूँ कि तुम लोग निश्चित रूप से अद्वैतवादी हो ।" माँ का यह पत्र, इतने दृढ़ विश्वास के साथ की गई यह घोषणा, पूरे रामकृष्ण संघ के इतिहास का एक महा-मूल्यवान दस्तावेज है । इसके साथ मायावती अद्वैत आश्रम की स्मृति अभिन्न रूप से जुड़ी है । इस घटना के बाद अद्वैत आश्रम में फिर कभी मन्दिर की स्थापना नहीं हुई । स्वामीजी ने बेलूड़ मठ में आकर कहा था, "मैंने सोचा था कि कम-से-कम एक केन्द्र में तो श्रीरामकृष्ण की बाह्य पूजादि बन्द रहेगी । पर हाय, जाकर देखता हूँ तो बूढ़ा वहाँ भी जमकर बैठा है ।"

अद्वैत आश्रम रामकृष्ण संघ का प्रमुख प्रकाशन केन्द्र है, जो शुरू से ही मुख्यतः अँग्रेजी में श्रीरामकृष्ण-भावधारा, वेदान्त तथा तत्सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन करता रहा है । प्रारम्भिक करीब २० वर्षों तक पुस्तक-प्रकाशन का सारा कार्य मायावती से ही होता था । फिर कार्य में वृद्धि होने से इसकी एक शाखा कॉलेज स्ट्रीट में स्थापित हुई, कई जगह स्थानान्तरित होती हुई मार्च, १९६१ ई. में वर्तमान एण्टाली अंचल में स्थायित्व को प्राप्त हुई ।

'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका और विभिन्न ग्रन्थों के सम्पादन के अलावा मायावती आश्रम का दूसरा मुख्य कार्य है - एक दातव्य अस्पताल का परिचालन । १९०३ ई. में सामान्य रूप से प्रारम्भ हुआ यह ग्रामीण अस्पताल आज अनेकों आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित है । इसमें एक बहिरग विभाग और एक अन्तरग विभाग है । उत्तर भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों से बहुत से लोग दूर दूर से यहाँ आते हैं । अस्पताल का सेवा-विस्तार लगभग १५ कि.मी. दायरे के १४०० गाँवों में है । यहाँ चिकित्सा पूर्णतः निःशुल्क होती है । इसके सिवा मायावती में एक अतिथि-गृह तथा गोशाला भी है ।

कलकत्ते में इस आश्रम की शाखा द्वारा 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका और विभिन्न ग्रन्थों के प्रकाशन, प्रचार आदि का कार्य संचालित होता है । यहाँ एक बड़ा पुस्तकालय भी है, जिसमें धार्मिक पुस्तकों के अलावा पाठ्य पुस्तकें भी हैं । दुमजले पर स्थित सभागार में नियमित रूप से धार्मिक-सास्कृतिक कार्यक्रम होते रहते हैं । सम्प्रति इस केन्द्र के कार्य हेतु ६५ कट्ठे का एक भूखण्ड खरीदा गया है, जिस पर प्रकाशन विभाग का अधिकांश कार्य स्थानान्तरित करने की योजना है । वहाँ एक प्रेक्षागृह, एक ध्यानकक्ष, एक सग्रहालय, कॉलेज के छात्रों के लिए पाठ्य-पुस्तकों का एक अध्ययन-कक्ष और साधु-निवास का भी निर्माण होगा । ❑❑❑

रामकृष्ण मिशन आश्रम,
छपरा, बिहार-८४१३०१

श्रीरामकृष्ण देव के सोलह संन्यासी शिष्यों में मात्र एक ही बंगभूमि के बाहर के थे और उन्हें अपनी माटी में जन्म देने का श्रेय छपरा को प्राप्त हुआ। स्वामी अद्भुतानन्द नाम से विख्यात ये संन्यासी लाटू महाराज के नाम से परिचित हैं। इनके माता-पिता समाज के अत्यंत पिछड़े वर्ग के थे। शैशवावस्था में ही माता-पिता के देहान्त हो जाने के कारण उन्हें बाल-श्रमिक के रूप में अपने चाचा के साथ कलकत्ता जाना पड़ा।

दैवी कृपा से किशोर लाटू अभूतपूर्व आध्यात्मिक साधना के शिखर-पुरुष, सर्वधर्म समन्वय की प्रतिमूर्ति युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आए। इन दोनों का मिलन भारत ही नहीं, विश्व के आध्यात्मिक जगत् के लिए एक ऐतिहासिक स्वर्णिम संगम था। यह केवल एक परम गुरु से एक निष्ठावान शिष्य का मिलन नहीं, वरन् भारत की एक युग-परिवर्तनकारी घटना थी, मानो भावी भारत की जाति-भेद विहीन सामाजिक संरचना का अद्भुत संकेत था।

श्रीरामकृष्ण के निर्देशन में गहन आध्यात्मिक साधना कर इस निपट ग्रामीण, निरक्षर युवक ने समाधि के उच्चतम सोपान पर ब्रह्मोपलब्धि कर आध्यात्मिक जगत में एक अद्वितीय, अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। लाटू महाराज की इस अनोखी उपलब्धि को देखकर स्वामी विवेकानन्द ने ही उनका नाम स्वमी अद्भुतानन्द रखा।

बिहार की मिट्टी धन्य है जिससे भगवान बुद्ध, महावीर जैन, सीता माई आदि के नाम जुड़े हैं। यह भूमि एक बार फिर से लाटू महाराज सरीखे सन्त को जन्म देकर धन्य हो गई है। आज स्वामी अद्भुतानन्द के जीवन-चरित पर बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्यान्य देशी-विदेशी भाषाओं में अनेक ग्रन्थों एवं लेखों का प्रकाशन हो रहा है। आध्यात्मिक जगत् में छपरा जिले को एक विशिष्ट गरिमा प्राप्त हुई है एवं वह दिन दूर नहीं जब छपरा एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल में परिवर्तित हो जाएगा।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ ने रामनवमी २००३ को छपरा में एक केन्द्र आरम्भ किया। आशा की जाती है कि रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा अपने पूर्ण सामर्थ्य से लाटू महाराज की स्मृति अक्षुण्ण रखने के साथ साथ समाज-कल्याण कार्यक्रमों में स्वयं को समर्पित कर देगा।

हमारे कार्यक्रमों को सुचारु रुप से चलाने के लिए हमें धन-बल एवं जन-बल की आवश्यकता है, जिसका अभी नितान्त अभाव है। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप हमारे कार्य में सहायता प्रदान करने सहानुभुतिपूर्वक आगे आएँ। इस आश्रम को दिये गये ८० (जी) के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा, बिहार' के नाम से ऊपर दिए गए पते पर भेजा जाए।

भवदीय

स्वामी समर्पणानन्द

सचिव

RAMAKRISHNA MISSION VIDYAPITH
A Residential Senior Secondary School
RAMAKRISHNA NAGAR, PO · VIDYAPITH
DT. - Deoghar, (Jharkhand) Pin : 814 112
RLY. STATION · BAIDYANATHDHAM, E. RLY.
Phone (06432) - 222413, 223455 & 236854
E-Mail - rkmvidya@dte.vsnl.net.in
Telefax · (06432) 222360

एक निवेदन

मित्रो,

आप लोग यह जानकर निश्चित रूप से अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर ने अप्रैल २००० से वर्ग एकादश एवं द्वादश की पढ़ाई आरम्भ कर दी है। अप्रैल २००० में भर्ती होनेवाले विद्यार्थी यहाँ से उत्तीर्ण हो चुके हैं और इनमें से कई विद्यार्थियों ने विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थानों (जैसे - आई.आई.टी., जी.आई.पी.एम. ई.आर. पांडीचेरी आदि) में प्रवेश पा लिया है। आपको यह जानकर भी अति प्रसन्नता होगी कि हमने इनके लिए ''छात्रावास परिसर'' का निर्माण कर लिया है, जिसमें एक प्रार्थना-भवन, पुस्तकालय, छात्रावास के लिए एक प्रशासनिक भवन, चार छात्रावास, भोजनालय, अतिथि भवन आदि हैं। शैक्षिक प्रभाग का निर्माण अभी होना है। इसके लिए हम लोगों ने इससे ही लगा हुआ ''अरुणालय सह ड्रीमलैंड'' नामक भूभाग खरीदा है। हम लोगों का विचार है कि इस भूखण्ड पर विद्यालय का उच्चतर माध्यमिक प्रभाग का निर्माण किया जाय, जो सारी आवश्यक सुविधाओं से युक्त हो, जैसे - क्लास रूप, एक प्रयोगशाला और एक उपकरणों से सुसज्जित आडीटोरियम आदि। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए लगभग ८४ लाख रुपयों की आवश्यकता है। अतिरिक्त १० लाख रुपये उपस्करों आदि के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार हमारी कुल आवश्यकता ९४ लाख रुपयों की है। निर्माण-कार्य मार्च २००४ के अन्दर ही सम्पन्न करना होगा तथा तदनुसार वर्ग एकादश एवं द्वादश का स्थानान्तर किया जा सकेगा।

अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान् एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

चेक या ड्राफ्ट ''रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर'' के नाम से ही भेजे जाएँ।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा ८०-जी के तहत आयकर से मुक्त है।

देवघर
दिनांक : २८. २. २००३

स्वामी सुवीरानन्द
सचिव